प्रार्थना-प्रवचन



प्रवचनकार :

उपाध्याय पं० र० श्री हस्तीमलजी म०



सम्पादक

पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल



सम्यग् ज्ञान प्रचारक मण्डल

जयपुर

प्रकाशकीय

प्रार्थना-प्रवचन पाठकों के कर-कमलों में अर्पित करते हुए मेरा मन-मयूर हर्ष से नाच रहा है। कारण सम्यग्-ज्ञान प्रचारक-मण्डल द्वारा प्रकाशित 'प्रार्थना-प्रवचन' श्रद्धेय उपाध्याय पं० र० श्री हस्तिमलजी महाराज साहब द्वारा प्रार्थना पर किये गये प्रवचनों का अमूल्य संग्रह है। प्रार्थना को लेकर अभी तक पार-दर्शी-दृष्टि से बहुत कम विवेचन हो पाया है। प्रार्थना-प्रवचन इस कमी की पूर्ति की दिशा में पहला कदम है।

प्रार्थना-प्रवचन में श्रद्धेय उपाध्याय श्री जी ने प्रार्थी और प्रार्थना का विवेचन करते हुए जनता के सम्मुख प्रार्थना के अमर व्याख्याकार बनकर आये हैं। प्रार्थना का मूल-केन्द्र कहाँ है? उसकी कौन-सी धारा कहाँ प्रवाहित है? प्रार्थना का चिन्तन जीवन में हमें क्या प्रेरणा देता है? आदि विषयों के समाधान पाठकों को "प्रार्थना-प्रवचन" में मिलेंगे।

सिरहमल नवलखा
मंत्री, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल
जयपुर

आभार प्रदर्शन

प्रार्थना-प्रवचन पाठकों के सन्मुख रखते हुये अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है। मार्च १९६० में प्रातः स्मरणीय बाल-ब्रह्मचारी पूज्य गुरुदेव पं० र० उपाध्याय श्री हस्तीमलजी म० को स्वामीजी अमरचन्द्रजी म० की असाध्य लम्बी बीमारी के कारण से जयपुर में ही ठहरना पड़ा था। पूज्य गुरुदेव ने प्रातः प्रर्थना के पश्चात् प्रवचन प्रारंभ किये थे। प्रारंभ के १-२ प्रवचन जिनको कि हम व्यवस्था न होने के कारण लीपीबद्ध करने में असमर्थ रहे हैं। ३ मार्च से श्री प्रेमराजजी बोगावत ने प्रवचनों को संकेत लिपि में लिख लिये थे, जिसकी प्रतियां हिन्दी में टाइप भी उन्होंने ही की जिसका उन्हें काफी परिश्रम उठाना पड़ा था। जितने प्रवचन प्राप्त हुऐ उन्हें पंडित शोभाचन्द्र जी भारिल्ल के पास सम्पादन हेतु भेज दिया गया था। इन सब कारणों से पुस्तक प्रकाशन में काफी विलम्ब हो गया।

प्रस्तुत प्रवचनों के संग्रह की उपयोगिता को देखते हुए पुस्तक के प्रकाशन का सम्पूर्ण भार मण्डल के उपाध्यक्ष व जयपुर के प्रमुख श्रावक, स्वर्गीय श्री केशरीमलजी कोठारी के सुपुत्र श्रीमान् धीमीलालजी कोठारी ने सहर्ष वहन करना स्वीकार किया है। अतः मण्डल आपका आभार प्रदर्शित करता है साथ ही कामना करते हैं कि आप इसी प्रकार समय २ पर मुक्तहस्त से दान देकर श्रद्धा का परिचय देते रहेंगे।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रूफ संशोधन में अधिकतर श्रीमान् प्रेमराज जी बोगावत ने सहयोग दिया है और मण्डल के संयुक्त मन्त्री हैं अतः आपका एवं अन्य सज्जनों का जिनका कि प्रत्यक्ष में या



स्व० सेठ केसरीमलजी कोठारी
(लाल हाथी वाले) जयपुर

अप्रत्यक्ष में सहयोग प्राप्त हुआ है—आभार प्रगट किये बिना नहीं रह सकते।

इन प्रार्थना प्रवचनों को पाठकों के सन्मुख पुस्तकाकार में लाने का श्रेय श्री प्रेमराजजी बोगावत को ही है। जिनके अतुल्य परिश्रम के कारण ही यह प्रकाशन हो रहा है।

भँवरलाल बोथरा
व्यवस्थापक

यत्किंचित्

अनादिकालीन विषय-विकार के प्रचुर और प्रगाढ़ संस्कारों की जड़ बड़ी गहरी होती है। मनुष्य जब तक बहिर्मुख-बहिरात्म बना रहता है, तब तक तो उसका ध्यान ही उन कुसंस्कारों की ओर नहीं जाता, किन्तु जब किसी प्रकार का सुयोग पाकर वह अन्तर्मुख बनता है, उसकी चेतना में प्रारम्भिक जागृति उत्पन्न होती है, तब वह अपने अन्तरतर का अवलोकन करता है। उसी समय उसे प्रतीत होता है कि मेरा शुद्ध स्वरूप क्या है, उसमें किस प्रकार की मलीनता आ गई है और उस मलीनता को दूर करने के उपायों का भी विचार करता है।

बहुत-से जीव इतना ही जानकर रह जाते हैं, वे अपनी मलीनता को धोने का प्रयत्न करने में समर्थ नहीं होते। किन्तु कुछ ऐसे भी होते हैं जो आत्मशुद्धि के लिए पुरुषार्थ करते हैं और निरन्तर पुरुषार्थ विरत रह कर अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं।

आत्मशुद्धि के पथ पर चलने वाले साधक कहलाते हैं। उन्हें 'मुमुक्षु' भी कहते हैं। इन साधकों का मार्ग अत्यन्त ही दुर्गम और कण्टकाकीर्ण है। विकार-वासनाओं पर विजय प्राप्त किये बिना आत्मा की शुद्धि नहीं होती और क्योंकि उन्हें चिरकाल से पोषण मिलता रहा है, अतएव अत्यन्त सबल होने से उन्हें जीतना आसान नहीं होता।

मुमुक्षु जीव के समक्ष साधारणतया दो समस्याएँ उपस्थित होती हैं—पूर्वकालीन वासनाओं की जड़ों को उखाड़ कर निर्मूल करना और नये सिरे से उन्हें उत्पन्न न होने देना। दोनों समस्याएँ बड़ी विकट हैं। जिन्होंने अपने जीवन में इन समस्याओं का समाधान पा लिया, उन ज्ञानीजनों ने साधकों पर अनन्त अनुकम्पा करके अपने बहुमूल्य अनुभवों का निचोड़ आगम के रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है और आत्मशोधन के अनेक उपाय प्रदर्शित

किये हैं। तप, जप, ध्यान, स्वाध्याय, स्तवन-प्रार्थना आदि उनमें प्रधान हैं। साधक अपनी योग्यता, रुचि या परिस्थिति के अनुसार इनमें से एक या अनेक साधनों का प्रयोग करके आत्मकल्याण के पथ का पथिक बन सकता है।

प्रार्थना इनमें सबसे अधिक सरल साधन है। प्रत्येक स्तर वाला साधक इस साधन का प्रयोग कर सकता है। प्रार्थना के विषय में यहां कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। प्रस्तुत समग्र ग्रन्थ प्रार्थना विषयक ही है। इसमें विद्वद्वर उपाध्याय पं० र० श्री हस्तीमलजी महाराज के प्रार्थना विषयक प्रवचनों का संकलन किया गया है।

श्रमण संघ की स्थापना के पश्चात् स्थानकवासी समाज में सामूहिक रूप में प्रातःकालीन प्रार्थना का नियम आरम्भ हुआ और वह सर्वत्र चल रहा है। जहां मुनिराज विराजमान होते हैं वहां और जहां नहीं होते वहां भी नियमित रूप से प्रार्थना होती है। मगर कोई भी क्रिया उसी समय अधिक आनन्दप्रद और रुचिकर होती है जब उसके वास्तविक रहस्य को समझ लिया गया हो। अतएव यह आवश्यक हो था कि प्रार्थना के सम्बन्ध में सर्वसाधारण को अच्छी जानकारी दी जाय। उपाध्यायजी का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ और फलस्वरूप यह संग्रह पाठकों के हाथों में पहुंच रहा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उपाध्याय श्री ने अपने पाण्डित्यपूर्ण प्रवचनों में प्रार्थना विषयक ज्ञातव्य विषयों का अत्यन्त सुन्दरता और विशदता से समावेश कर दिया है। इन प्रवचनों से प्रार्थनाकर्त्ताओं की दृष्टि समीचीन बनेगी और वे प्रार्थना के फल के विशेष रूप से भागी बनेंगे।

इनके सम्पादन का सुअवसर मुझे मिला है, पर इसमें मेरा अपना कुछ भी नहीं है। उपाध्याय श्री के भावों को व्यवस्थित कर देना ही मेरा काम रहा है। मैं पाठकों की ओर से उपाध्याय म० के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूं।

ब्यावर, ११. १. ६१ —शोभाचन्द्र भारिल्ल

अनुक्रमणिका

१

प्रार्थना केन्द्र

•

आत्मा के अनादि-निधन अस्तित्व पर जिसका अविचल विश्वास है, जिसने आत्मा के विशुद्ध स्वरूप को, किसी भी उपाय से हृदयंगम कर लिया है, जिसे यह प्रतीति हो चुकी है कि आत्मा अपने मूल रूप में अनन्त चेतना-ज्ञान-दर्शन का और असीम वीर्य का धनी है, निर्विकार एवं निरंजन है और साथ ही जो उसके वर्त्तमान विकारमय स्वरूप को भी देखता है, उस मुमुक्षु के अन्तःकरण में अपने असली शुद्ध स्वरूप की उपलब्धि की अभिलाषा उत्पन्न होना स्वभाविक है, आत्मोपलब्धि की तीव्र अभिलाषा आत्म-शोधन के लिए प्रेरणा जागृत करती है और तब मुमुक्षु यह सोचने के लिए विवश हो जाता है कि आत्मशोधन का मार्ग क्या है ?

आत्मशोधन का मार्ग क्या है ? इस प्रश्न का समीचीन समाधान प्राप्त करने के साधन प्रधान रूप से दो हैं। साधना की उच्चतर भूमि

पर पहुँचे हुए महापुरुषों की जीवनियों का आन्तरिक निरीक्षण और उनके उपदेशों का सूक्ष्म विचार । साधना की जिस पद्धति का अनुसरण करके उन्होंने आत्मिक विशुद्धि प्राप्त की और फिर लोककल्याण के हेतु अपने अनुभवों को भाषा द्वारा प्रकाशित किया, साधना के क्षेत्र में प्रवेश करने वालों के लिए वही मार्ग उपयोगी हो सकता है ।

जब उस मार्ग पर विचार करते हैं तो बहुत सारी बातें हमारे मस्तिष्क में आती हैं। जैन और जैनेतर साहित्य के अनेक विधि-विधान चित्रपट की भाँति दिमाग में घूमने लगते हैं।

किसी ने ज्ञान के द्वारा आत्मशोधन की आवश्यकता प्रतिपादित की, किसी ने कर्मयोग की अनिवार्यता बतलाई, तो किसी ने भक्ति के सरल मार्ग के अवलम्बन की वकालत की। मगर जैन-धर्म किसी भी क्षेत्र में एकान्तवाद को प्रश्रय नहीं देता। वह अपनी भाषा में ज्ञान और क्रिया के समन्वय द्वारा आत्म शुद्धि का होना प्रतिपादित करता है। जैनधर्म के अनुसार एक ही मार्ग है, पर उसके अनेक अंग हैं, अतः उसमें संकीर्णता नहीं, विशालता है और प्रत्येक साधक अपने-अपने सामर्थ्य के अनुसार उस पर चल सकता है।

प्रभु की प्रार्थना भी आत्मशुद्धि की पद्धति का एक अङ्ग है। साधक सब सरीखी योग्यता वाले नहीं होते। उनके विकास में पर्याप्त तारतम्य होता है। अतएव साधना पद्धति का कोई अंग किसी के लिए और कोई अङ्ग किसी के लिए विशेष उपकारक होता है। प्रभु की प्रार्थना साधना का ऐसा अंग है जो किसी भी साधक के लिए कष्ट सेव्य नहीं है। प्रत्येक साधक, जिसके हृदय में परमात्मा के प्रति गहरा अनुराग हो, प्रार्थना कर सकता है।

प्रार्थना का प्राण भक्ति है। जब साधक के अन्तःकरण में भक्ति का तीव्र उद्रेक होता है, तब अनायास ही जिह्वा प्रार्थना की भाषा का उच्चारण करने लगती है; इस प्रकार अन्तःकरण से उद्भूत प्रार्थना ही सच्ची प्रार्थना है।

प्रार्थना कैसी होनी चाहिए, प्रार्थ्य और प्रार्थी कैसे होने चाहिए और प्रार्थना की पद्धतियाँ क्या-क्या हैं, यह सब जान लेने पर ही कारगर प्रार्थना की जा सकती है। इन सब प्रश्नों पर संक्षेप में यथा समय प्रकाश डालने की मेरी भावना है।

कल प्रार्थ्य के संबंध में कतिपय विचार व्यक्त किये गये थे। आज भी इसी विषय में थोड़ा विचार करना है। साधारणतया जो अपने से बड़ा है वह प्रार्थ्य होता है और जो छोटा है वह प्रार्थी होता है, किन्तु यह तो व्यवहार की चाल है। व्यवहार की इस चाल में आज जो प्रार्थ्य है अर्थात् जिससे हम प्रार्थना करते हैं, वही किसी दूसरे से, जो उससे भी बड़ा है, प्रार्थना करता नजर आता है और जिस दूसरे से वह प्रार्थना करता है, वह भी कभी आवश्यकता से प्रेरित होकर तीसरे से प्रार्थना करता है। इस प्रकार व्यवहार की इस चाल में जिससे प्रार्थना की जाती है, वह स्वयं भी प्रार्थी रहता है।

लेकिन हमारी जो पारमार्थिक चाल है, उसमें यह अनवस्था नहीं है। उसमें हम जिसकी प्रार्थना करते हैं या करना चाहते हैं, वह प्रार्थ्य कृतकृत्य होता है। उसने जीवन की वह चरम और परम सिद्धि प्राप्त कर ली है, जिसके पश्चात् कुछ भी प्राप्य नहीं रह जाता और साथ ही वह सिद्धि शाश्वत होती है, अतएव एक बार प्राप्त कर लेने के बाद पुनः उसका अंत नहीं होता इसके अतिरिक्त वह प्रार्थ्य राग और द्वेष से परे और पूर्ण निष्काम

होता है। आध्यात्मिक वैभव का परिपूर्ण निधान प्राप्त कर लेने से वह अनन्त अव्याबाध आनन्द के परम प्रशान्त सरोवर में अवगाहन करने वाला विशुद्ध चिद्रूप परमात्मा होता है। वह आत्मिक विकास की सर्वोत्कृष्ट अन्तिम रेखा को प्राप्त है। अतएव उसके लिए दूसरा कोई प्रार्थ्य नहीं है।

जिन्हें सच्चे सुख की झांकी नहीं मिली है और इस कारण जो विषय-जन्य सुखाभास को ही सुख समझे हुए हैं, उनकी बात छोड़िए। परन्तु जिन्हें सम्यग्दृष्टि प्राप्त है और जो विषय सुख को विष के समान समझते हैं और आत्मिक सुख को ही उपादेय मानते हैं, जो वीतराग और कृत-कृत्य बनना चाहते हैं, वे किस की प्रार्थना करें? निश्चय ही उन्हें कृत-कृत्य और वीतराग देव की, और उनके चरण चिन्हों पर चलने वाले एवं उस पथ के कितने ही पड़ाव पार कर चुकने वाले साधकों-गुरुओं-की ही प्रार्थना करनी चाहिए। देव का पहला लक्षण वीतरागता बतलाया गया है—

'अरिहन्तो मह देवो।' 'दसट्ठ दोसा न जस्स सो देवो'

राग-रोष-अज्ञान आदि १८ दोष जिनमें नहीं है वह देव है। जिनकी प्रार्थना करने से हम सदा के लिए आकुलता से मुक्त हो सकते हैं और जिनकी प्रार्थना हमें तत्काल शान्ति प्रदान करती है, वही हमारे लिए प्रार्थ्य है और वह अरिहन्त तथा सिद्ध ही हो सकते हैं। वहां प्रार्थना के असफल होने का कोई खतरा नहीं है, क्योंकि एक क्षण के लिए भी अगर हमारा चित्त वीतराग देव में तल्लीन हो जाता है, तो निश्चय ही उस तल्लीनता के अनुरूप फल की प्राप्ति होगी। मगर सरागी देव की सांसारिक पदार्थों के लिए की जाने वाली प्रार्थना में यह बात नहीं है।

भगवान् महावीर जब निर्वाण पधारे, उस समय गौतम देवश्रमण ब्राह्मण को प्रतिबोध देने गये हुए थे। प्रतिबोध देकर जब वह वापिस लौट रहे थे, उन्हें सहसा आकाश में देवों के विमान आते-जाते दिखाई दिये, उसी समय लोगों से उन्हें पता चला कि भगवान् महावीर निर्वाण को प्राप्त हो चुके हैं।

यह समाचार सुनकर गौतम के मन में कैसी-कैसी भावनाएं उत्पन्न हुई होंगी, यह कौन पूरी तरह जान या कह सकता है? उनके अन्तःकरण में किंचित् मोहभाव की जागृति हुई और वह कहने लगे-'भगवन्! वर्षों मैंने तेरे चरणों की सेवा की, तेरा अन्तेवासी होकर रहा, परन्तु आज अन्तिम समय में तूने मुझे जान बूझ कर त्याग दिया! क्या मेरी निकटता आपके निर्वाण में बाधक बन जाती! मुझे साथ ले लिया होता तो आपको कोई अड़चन पड़ती? क्या वहाँ स्थान की कुछ कमी थी? खैर, साथ न लेते तो न सही, कम से कम अपने निर्वाण की सूचना तो दे देते? मगर हन्त! मुझे धोखे में रक्खा आपने।'

गौतम, भगवान् महावीर को उपालंभ दे रहे हैं और आराध्य को उपालंभ देना भी भक्ति का एक रूप है। जिसकी प्रार्थना की गई है, वह अगर रागी होता तो गौतम को शान्ति नहीं मिलती किन्तु प्रार्थना करते-करते उन्हें ख्याल आया, "अरे, वह तो वीत-राग हैं। उनके लिए न कोई अपना, न कोई पराया है। ओह! वीतराग का सेवक होकर भी मैं रागभाव को नहीं जीत सका? इस प्रकार प्रलाप करके मैं मोहदशा में वर्त रहा हूँ। वीतराग के शिष्य को वीतराग बनना चाहिए।

जिसकी प्रार्थना करनी होती है, उसके पास उसी ढंग से जाया जाता है। आज किसी कांग्रेसी मिनिस्टर के पास जाकर

आपको प्रार्थना करनी हो तो आप क्या करेंगे ? हमेशा भले ही आप विलायती वस्त्र धारण करते हों या मील के कपड़ों का उपयोग करते हों, परन्तु वहां जाते समय, उसी के समान खादी के वस्त्र पहन कर जाएँगे। किसी श्रीमन्त के पास कोई प्रार्थना करने के लिए जाते समय क्या करोगे ? उसके मन पर अनुकूल प्रभाव डालने के लिए और अपने उद्देश्य को सफल बनाने के लिए किसी पूंजी वाले को साथ लेकर जाओगे। आप सोचोगे पूंजी वाले को प्रभावित करने के लिए पूंजी वाला ही साथ चाहिए। अन्यथा उद्देश्य पूर्ति में सन्देह रहेगा जाते झिझक भी होगी।

लेकिन किसी महात्मा के सामने प्रार्थना करने जाना हो तो किसको साथ लोगे ? उस समय किसी खादी वाले नेता को नहीं खोजोगे और न किसी पूंजी वाले की तलाश करोगे। उस समय तो आप ऐसे किसी व्यक्ति को साथ लेने का प्रयत्न करोगे जो धर्मनिष्ठ हो, महात्माओं के संसर्ग में रहता हो और धर्म के आराधकों की प्रथम पंक्ति में खड़ा रहता हो।

अभिप्राय यह है कि प्रार्थी को प्रार्थ्य के अनुरूप ही वेष और व्यवहार बनाना पड़ता है, उसके साथ अधिक से अधिक साम्य स्थापित करने का प्रयत्न करना होता है। किन्तु इस प्रकार के प्रयत्न में यदि हार्दिकता न हुई और निखालिस दम्भ ही हुआ तो प्रायः अनुकूल प्रभाव पड़ने की कम और प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की अधिक संभावना रहती है। हार्दिकता पूरी है तो सफलता की आशा भी पूरी की जा सकती है।

जब हमने वीतराग को अपना प्रार्थ्य माना है और वही हमारी प्रार्थना के केन्द्र बिन्दु हैं तो प्रार्थना को सफल बनाने के लिए

किसे साथ लेना होगा ? वीतराग भाव या निर्मोह दशा ही उस समय हमारा सुयोग्य एवं सबल सहायक हो सकता है। अगर हमारे चित्त में किसी प्रकार का दंभ नहीं है, वासनाओं की गंदगी नहीं है, तुच्छ स्वार्थलिप्सा का कालुष्य नहीं है तो हम वीतराग के साथ अपना सान्निध्य स्थापित कर सकते हैं, एकरूपता सिद्ध कर सकते हैं। वीतराग की प्रार्थना के उद्देश्य को पूरी तरह सफल बना सकते हैं। वीतराग की प्रार्थना की एक विशिष्टता यह है कि प्रार्थी को उससे प्रत्येक अवस्था में शान्ति ही प्राप्त होती है—अशान्ति की कोई कल्पना ही नहीं की जा सकती।

गौतम स्वामी के चित्त में यद्यपि प्रशस्त राग का उद्रेक हो आया था तथापि उनकी प्रार्थना के केन्द्र वीतराग थे। ज्यों ही उनका ध्यान भगवान् के वीतराग स्वरूप की ओर आकर्षित हुआ उनकी आत्मा में जागती हुई ज्योति की एक अपूर्व किरण चमकने लगी। उन्होंने सोचा—अरे गौतम ! तू किस दलदल में फंस गया, क्यों मोह के अन्धकार में भटक रहा है। चिरकाल तक वीतराग की उपासना करके भी तुझे यह बोध नहीं हुआ कि कोई किसी दूसरे को तार नहीं सकता। तेरी आत्मा ही तुझे तार सकती है। अपनी आत्मा का आप ही उद्धार करना होगा। चेतन ! तूं ही तारसी रे। राग-द्वेष के जो अंश तेरी आत्मा में अवशिष्ट हैं, उनका उन्मूलन कर डाल। तू स्वयं वीतरागता के सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ हो जायगा। भगवान् की इस प्रेरणा प्रदायिनी वाणी को तूं क्यों भूल रहा है—

अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नंदणं वणं,

आत्मा ही कामधेनु है। आत्मा ही नन्दनकानन है। आत्मा की उपलब्धि से ही परमात्मा को प्राप्त किया जा सकता है।

गौतम की आत्मा में ज्यों ही ज्ञान का यह आलोक प्रस्फुटित हुआ, मनोवृत्ति में सहसा परिवर्तन हो गया। विचार धारा की दिशा दूसरी ओर मुड़ गई। वहिर्मुखी धारा अन्तर्मुखी हो गई। ज्ञान के उस प्रखर आलोक में अज्ञान-मोह सर्वथा विलीन हो गया वह पूर्ण वीतराग बने और वीतरागता प्राप्त होते ही केवली हो गए।

गौतम स्वामी को अपूर्व निराकुलता की प्राप्ति हुई। चित्त के समस्त संकल्प, विकल्प और विक्षेप क्षीण हो गए। इसका कारण यही था कि उनके प्रार्थना केन्द्र वीतराग थे। वह क्षण भर भटक कर भी जिस जगह आना चाहिए, उसी जगह आ गए।

हमारी प्रार्थना के केन्द्र यदि वीतराग होंगे तो निश्चित रूप से हमारी मनोवृत्तियों में प्रशस्तता और उच्च स्थिति आएगी। उस समय सांसारिक मोह माया का कितना भी सघन पर्दा आत्मा पर क्यों न पड़ा हो, किन्तु वीतराग स्वरूप का चिन्तन करने वाले और वीतराग की प्रार्थना करने वाले उसे धीरे-धीरे अवश्य हटा सकेंगे।

साधारण प्राणी अनेक प्रकार के रसों का आस्वादन करते हैं और उससे आनन्द का अनुभव भी करते हैं। मगर उस आनन्द में स्थायित्व कहां है ? तृप्ति कहाँ है ? पौद्गलिक रस में वह प्रगाढ़ता और उग्रता कहाँ है कि उसका आस्वादन करने के पश्चात् दूसरे रस का आस्वादन करने की लालसा ही शेष न रह जाय ? मधुर से मधुर रस का आस्वादन करने के बाद नमकीन चखने की इच्छा जागृत होती है और उसके बाद भी इलायची, सुपारी आदि के आस्वादन की। और इन सब का आस्वादन कर

लेने पर भी क्या तृप्ति स्थायी बन जाती है ? नहीं, कुछ ही काल बीतते न बीतते पुनः वही लालसा जाग उठती है। मगर वीतरागस्वरूप का रस अलौकिक और अपूर्व है। उस रस का माधुर्य अनुपम है। यही कारण है कि एक बार जो उसका आस्वादन कर लेता है, उसे संसार के समस्त रस फीके जान पड़ते हैं। उसके चित्त पर संसार का कोई भी पदार्थ या सराग देवी देवता नहीं चढ़ सकता। भक्तामर स्तोत्र में आचार्य मान तुंग कहते हैं।

पीत्वा पयः शशिकरद्युति दुग्धसिन्धोः.
क्षारं जलं जलनिधेरशितुं क इच्छेत् ?

भगवन् ! जिसने क्षीर सागर के अमृत सदृश जल का आस्वादन कर लिया है, क्या वह समुद्र का खारा पानी पीना पसंद करेगा ? कौन मूर्ख और अभागा होगा ऐसा ?

तो जिसने वीतराग की प्रार्थना कर ली हो, जो वीतराग की प्रार्थना के सुधा-सागर में अवगाहन कर चुका हो, जिसका मन-मयूर वीतराग की प्रार्थना में मस्त बन चुका हो, उसका मन कभी भैरु की प्रार्थना से सन्तुष्ट होगा ? भवानी की प्रार्थना में आनन्दानुभव कर सकेगा ? काली, महाकाली आदि सराग देवों की ओर आकर्षित होगा ? कदापि नहीं।

वीतराग की प्रार्थना क्षीर समुद्र का मधुर अमृत है, वरन् उससे भी अनन्तगुणा अधिक माधुर्य उसमें है। उसमें आत्मिक गुणों की मिठास है। उस मिठास में राग और द्वेष का खारापन नाम मात्र को नहीं है।

गाय, भैंस आदि मादा पशुओं और माताओं के, जिनके दुधमुंहे बच्चे हैं, शरीर में रक्त भी होता है और दूध भी होता है,

सुकोमलकाय गजसुकुमार के मस्तक पर दहकते हुए अङ्गार रक्खे गये थे। अङ्गार दुःख के कारण हैं। एक अङ्गार आधे क्षण तक भी आपके शरीर से छू जाय तो आपको कितनी पीड़ा होगी? कैसी व्याकुलता उत्पन्न हो जाएगी? मगर गजसुकुमार के मस्तक पर गीली मिट्टी की, सिगड़ी की तरह पाल बनाई गई थी और उसमें खदिर के धधकते अङ्गार भरे गये थे। कल्पना मात्र से हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं और हृदय धड़कने लगता है। किन्तु उस समय गजसुकुमार की मनोदशा क्या थी? क्या उन्होंने दुःख का अनुभव किया? वे वीतराग के सच्चे उपासक थे। वीतराग के ध्यानी थे और वीतरागता में ही उनका मन पूरी तरह रम गया था। अतःएव वे अङ्गार दुःख के कारण न बन कर उनके लिए अनन्त सुख के कारण बन गए।

कदाचित् आपके सामने ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाय तो आप क्या सोचेंगे? आप कुछ भी सोचें, किन्तु वीतरागता के परमोपासक गजसुकुमार ने यही सोचा कि–सोमिल मेरा मित्र है, सहायक है, उपकारक है। यह मेरा कोई बिगाड़ नहीं कर रहा है, मुझे कर्म-ऋण के गुरुतर भार से मुक्त होने में सहायता कर रहा है।

गजसुकुमार के चित्त में इस प्रकार की भावना उत्पन्न हुई, क्योंकि वे वीतरागता के उपासक थे। इसी कारण भयानक से भयानक दुःख भी उनके लिए परम सुख बन गया और उन्हें तत्काल सर्वज्ञ-सर्वदर्शी दशा प्राप्त हो गई। अगर गजसुकुमार के चित्त के किसी कोने में यह भावना होती कि सोमिल मेरा वैरी है और मुझे जला रहा है। यह ब्राह्मण है या चाण्डाल, जो मेरे मस्तक को तिल-तिल करके जला रहा है? ऐसा नीचतापूर्ण

कृत्य तो चाण्डाल भी नहीं कर सकता। अगर इस प्रकार का विचार उत्पन्न हो जाता तो इतनी तकलीफ उठा कर भी वे नतीजा क्या पाते ? निश्चित है कि उन्हें मोक्षप्राप्त न हो सकता।

मगर वीतरागता का उपासक शरीर के प्रति भी नीराग हो जाता है। शास्त्र में कहा हैः—

अवि अप्पणो वि देहम्मि नायरंति ममाइयं।

वीतरागता का साधक अपने शरीर के प्रति भी ममत्ववान् नहीं रह जाता। उस स्थिति में अपने शरीर का दाह उसे ऐसा ही प्रतीत होता है, मानो कोई झोंपड़ी जल रही है और वह दूर से उसका जलना देख रहा है। इस प्रकार की देहातीत दशा प्राप्त हो जाने पर शरीर का दाह भी आत्मा को सन्ताप नहीं पहुंचा सकता।

वीतराग भाव में रमण करने के कारण गजसुकुमार के हृदय में क्रोध के बदले करुणा का ही संचार हुआ कि—सोमिल की आत्मा क्यों कर्मबन्ध कर रही है ? भगवन् ! इसे सुमति मिले।

अभिप्राय यह है कि इस प्रकार की उच्चतम भावना तभी उत्पन्न होती है, जब वीतरागता हमारा ध्येय हो और उस ध्येय की पूर्ति के लिए वीतरागदेव को ही प्रार्थ्य-उपास्य बनाया जाए।

इस प्रकार की उपासना के लिए पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता होती है, और वह पथ-प्रदर्शक वही हो सकता है जो वीतरागता के पथ पर काफी दूर तक अग्रसर हो चुका हो और निर्ग्रन्थ हो। ऐसा पथप्रदर्शक हमें गलत राह पर नहीं ले जाएगा।

प्रार्थना के दो रूप हैं। भौतिक—लौकिक—प्रार्थना और आध्यात्मिक—लोकोत्तर—प्रार्थना। वीत राग देव को प्रार्थना का केन्द्र

बनाने वाला यदि मन से जागृत है तो वह उनसे भौतिक प्रार्थना नहीं करेगा। कदाचित् कोई भूला-भटका, दिग्भ्रान्त होकर भौतिक प्रार्थना करने लगे तो वीतरागता का स्मरण आते ही वह सन्मार्ग पर आ जाएगा। वीतरागता की प्रार्थना की यह एक बड़ी खूबी है।

अब जरा विचार करना है कि उक्त दो प्रार्थनाओं में से आध्यात्मिक प्रार्थना ही क्यों उपादेय है और भौतिक प्रार्थना क्यों उपादेय नहीं है। भौतिक प्रार्थना का अर्थ है सांसारिक सुख के साधनों—भोगोपभोगों के लिए प्रार्थना करना। किन्तु भौतिक पदार्थों का संयोग वस्तुतः सुख का नहीं, वरन् दुःख का ही साधन है।

संयोगमूला जीवेन प्राप्ता दुःख परम्परा।

दुःखों का जो प्रवाह अनादिकाल से, अजस्र गति से प्रवाहमान है, उसका उद्गम स्थल पर-संयोग है। ऐसी स्थिति में पर पदार्थों के संयोग के लिए प्रार्थना करना प्रकारान्तर से दुःख के लिए ही अभ्यर्थना करना है, अतःएव भौतिक प्रार्थना को मुमुक्षुजन उपादेय नहीं मानते।

आध्यात्मिक प्रार्थना का अर्थ है आध्यात्मिक गुणों का विकास करने के लिए अरिहन्तों और सिद्धों की शरण में अथवा निर्ग्रन्थ गुरुओं के चरणों में आत्मनिवेदन करना, अपनी दुर्बलताओं को प्रस्तुत करना और उनसे मुक्त होने की आकांक्षा को अभिव्यक्त करना। इस रूप में एक प्रकार का चिन्तन होता है और वह भी प्रार्थना का एक रूप है।

तो सर्व प्रथम प्रार्थना करने वाले को अपने प्रार्थ्य का समीचीन रूप से निश्चय करना चाहिए और जिस उद्देश्य की

सिद्धि के लिए उसे प्रार्थ्य बनाया है, उसी को सदैव सन्मुख रखकर प्रार्थना करनी चाहिए। जो इस विवेक के साथ प्रार्थना करेगा वह तिरेगा और इसी जीवन में उसे अपूर्व शान्ति की प्राप्ति होगी।

———

लाल भवन,
जयपुर
२-२-१६६०

२

प्रार्थना-वर्गीकरण

प्रार्थना किसकी करनी चाहिए, इस सम्बन्ध में कल कहा गया था। अब देखना है कि प्रार्थना का रूप क्या होना चाहिए, जिससे साधक का जीवन ऊंचा उठ जाय, उसमें पवित्रता का संचार हो जाय और आत्मा में अखंड एवं शाश्वत शान्ति का झरना बहने लग जाय।

सराग देवों की तथा लोकव्यवहार में अपने से बड़ों की की जाने वाली प्रार्थना के विषय में यहां विचार नहीं करना है; यहां तो सिर्फ वीतराग देवाधिदेव की प्रार्थना के संबंध में, जिसे कल आध्यात्मिक प्रार्थना बतलाया गया था, विचार करना है।

हमारे साहित्य में प्रार्थना के विविध रूप दृष्टिगोचर होते हैं। वर्गीकरण किया जाय तो तीन विभागों में उन सब का समावेश होता है:—

१. स्तुतिप्रधान प्रार्थना।
२. भावनाप्रधान प्रार्थना।
३. याचनाप्रधान प्रार्थना।

स्तुतिप्रधान प्रार्थना में प्रार्थ्य के गुणों का उत्कीर्त्तन किया जाता है। उन गुणों के प्रति प्रार्थी अपना हार्दिक अनुराग व्यक्त करता है और प्रार्थ्य की विशेषताओं के साथ अपनी अभिन्नता स्थापित करने की चेष्टा करता है। स्तुतिप्रधान प्रार्थना में जब भावना की गहराई उत्पन्न हो जाती है तो प्रार्थी अपने प्रार्थ्य के विराट् स्वरूप में अपने व्यक्तित्व को विलीन करके एकाकार बन जाता है। एकाकारता की अनुभूति के समय उसे सोऽहम् का यथार्थ तत्व उपलब्ध होता है और वह अपने आप में परमात्मिकता का अनुभव करने लगता है।

स्तुतिप्रधान प्रार्थना सभी प्रार्थनाओं में उत्तम मानी गई है; क्योंकि इसी के द्वारा प्रार्थ्य और प्रार्थी के बीच का पर्दा दूर किया जाता है। इसमें किसी भी प्रकार की कामना की अभिव्यक्ति नहीं होती।

स्तुतिप्रधान प्रार्थना भी दो प्रकार की होती है। बाह्य विभूति की स्तुति और आन्तरिक विभूति की स्तुति। अरिहन्त भगवान् में दो प्रकार की विशिष्टताएं पाई जाती हैं। (१) प्रकृष्ट एवं असाधारण पुण्य के उदय से उत्पन्न होने वाली बाह्य अर्थात् आत्मभिन्न विशेषताएं और आवरणक्षय से जनित आत्मिक विशेषताएं। इनमें से पुण्य जनित विशेषताएं बाह्य वैभव है और आवरणक्षय जनित विशेषताएं आत्मस्वरूप होने से आन्तरिक वैभव कहलाती हैं। इस प्रकार स्तुत्य गुणों की भिन्नता के कारण स्तुतिप्रधान प्रार्थना भी दो प्रकार की होजाती है।

पुण्यजनित बाह्य वैभव भी दो प्रकार का है। शारीरिक वैभव और अष्ट महाप्रातिहार्य आदि शरीरव्यतिरिक्त वैभव। बाह्य विभूति

की स्तुति में दोनों प्रकार के वैभव का कीर्त्तन किया जाता है। अतःएव इस स्तुति की भी दो किस्म हो जाती हैं और स्तुतिसाहित्य में दोनों के ही प्रचुर उदाहरण मिलते है। शारीरिक वैभव की स्तुति करते हुए आचार्य मानतुंग ने कितना सुन्दर कहा हैः—

यैः शान्तरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वं,
निर्मापितस्त्रिभुवनैकललाम भूत ।
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्याम्,
यत्ते समानमपरं न हि रूपमस्ति ॥

अर्थात्—तीनों लोकों में अद्वितीय सौन्दर्यशालिन् प्रभो ! जिन शान्त राग परमाणुओं से आपका शरीर बना है, प्रतीत होता है कि समग्र विश्व में परमाणु उतने ही थे। अगर वैसे परमाणु और होते तो आपके शरीर के समान किसी अन्य का भी शरीर बना होता ! परन्तु उतना सुन्दर और मनोहर शरीर कहीं भी दृष्टि गोचर नहीं होता। इससे यही अनुमान होता है कि वैसे सुन्दरतम परमाणु अन्य बचे ही नहीं। इसी कारण तो आपके रूप सौन्दर्य की कोई तुलना नहीं है।

आचार्य की उक्ति कितनी मनोहर और अनूठी है। शारीरिक वैभव की स्तुति का यह एक उदाहरण है।

पुण्यजनित शरीर व्यतिरिक्त बाह्य वैभव की स्तुति करते हुए कल्याणमन्दिर स्तोत्र में कहा गया है—

स्वामिन् ! सुदूरमवनम्य समुत्पतन्तो ।
मन्ये वदन्ति शुचयः सुरचामरौघाः ॥
येऽस्मै नतिं विदधते मुनिपुंगवाय ।
ते नूनमूर्ध्वगतयः खलु शुद्धभावाः ॥

जब तीर्थंकर भगवान् समवशरण में, दिव्य सिंहासन पर स्थित होते हैं, तब देव उन पर चामर ढोरते हैं। वे दुग्धधवल शुचि चामर एक बार अत्यन्त नीचे की ओर जाकर फिर ऊपर उठते हैं। मानो वे भव्य जीवों को संदेश दे रहे हैं कि जो शुद्ध हृदय पुरुष इन प्रभु को प्रणाम करते है, वे निश्चय ही उर्ध्वगति को प्राप्त होते हैं–स्वर्ग, मोक्ष प्राप्त करते हैं।

इसी श्रेणी की स्तुति का हिन्दी भाषा का एक उदाहरण देखिए:—

तरु अशोक जाको अवलोकंत, शोक समूहनसंत।
सुरकृत वाण वरण के नभ से, अचित सुमन वरसंत।
मनाऊँ मैं तो श्री अरिहंत महंत।

प्रभो ! आप जिस अशोकतरु की छाया में विराजमान होते हैं, उसे भी लोकोत्तर महिमा प्राप्त हो जाती है। उसके नीचे जाकर रोने वाला मनुष्य भी हंसनेवाला बन जाता है। भगवन् ! जहां आपका पदार्पण होता है, वहां पाँच वर्ण के अचित्त कुसुमों की वर्षा होती है। आकाश में देव दुंदुभि बजाते हैं, मानो धर्म चक्रवर्त्ती की विजय की घोषणा कर रहे हों। इस प्रकार की स्तुति इसी कोटि में आती है।

आन्तरिक वैभव की स्तुति में भगवान् के अतुल पराक्रम का, क्षायिक ज्ञान-दर्शन का तथा अव्याबाध सुख आदि गुणों का कीर्त्तन किया जाता है। यथा–'प्रभो ! आपकी जय हो ! आप परिषहों और उपसर्गों के भयंकर तूफान में भी सुमेरु की भांति अचल रहते हैं। मनुष्य तो क्या देव भी और सारा विश्व मिलकर भी आपको चलायमान नहीं कर सकता।' यह आन्तरिक वैभव की स्तुति का छोटा-सा नमूना है। कहा है–

वासीचंदणकप्पे य, समाणे लेट्ठु कंचणे।

यहां प्रभु के समभाव का कथन किया गया है। प्रभु का सम भाव सदैव अखण्डित रहता है। चाहे कोई बसूला से शरीर का तक्षण करे, चाहे चन्दन का लेप करे; चाहे कोई पूजन, वन्दन या स्तवन करे, चाहे निन्दा करे, प्रभु तो सदैव समभाव के सुधा-सागर में ही निमग्न रहते हैं। प्रभो! कितनी अनुपम शान्ति है आपमें, कैसा प्रशमभाव है। कैसी अथाह गंभीरता है।

गणधर महाराज ने इस श्रेणी की स्तुति 'लोगस्स' के पाठ में की है। कहा है:-

लोगस्स उज्जोयगरे, धम्मतित्थयरे जिणे।
अरिहंते कित्तइस्सं चउवीसं पि केवली॥

लोक में अलौकिक ज्ञानालोक का प्रसार करने वाले, धर्म-तीर्थ की संस्थापना करने वाले, राग द्वेष क्रोध मद मोह आदि विकारों को जीतने वाले और कर्मशत्रुओं का हनन करने वाले तथा कैवल्य प्राप्त करने वाले चौवीसों तीर्थंकर भगवन्तों की मैं स्तुति करूंगा।

इसके पश्चात् प्रत्येक तीर्थंकर का नाम निर्देश करके उनका उत्कीर्त्तन किया गया है, जो 'उसममजिअं च वन्दे' से आरंभ हो कर 'पासं तह वद्धमाणं च' तक समाप्त होता है।

यह स्तुतिरूप प्रार्थना है। इसमें प्रधानता स्तुति की है, भावना की प्रधानता नहीं है, याचना की भी प्रधानता नहीं है, यद्यपि गौण रूप में सात्विक याचना का पुट पाया जाता है। वह याचना क्या है?

चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा।
सागरवर गंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु॥

अर्थात्—हे तीर्थंकर भगवन् ! आप चन्द्रमा से भी अधिक निर्मल हैं। चन्द्रमा कभी प्रकाशमान होता है, कभी नहीं, उसमें कलंक की कालिमा विद्यमान है और वह मेघादि से आच्छादित हो जाता है, परन्तु इनमें से कोई भी दोष आपमें नहीं पाया जाता। आपका चैतन्य प्रकाश शाश्वत है, आप सब प्रकार से निष्कलंक हैं और सर्वथा निरावरण हो चुके हैं।

प्रभो ! आप सहस्रों सूर्यों से भी अधिक प्रकाश करने वाले हैं। हजारों सूर्य मिलकर भी मनुष्य के आन्तरिक तिमिर को-मिथ्यात्वान्धकार को दूर नहीं कर सकते, मगर आपका ज्ञान उस अन्धकार का भी निवारण करता है। भगवन् ! आप सागर-वरगंभीर हो अर्थात् समुद्र से भी अधिक शान्त और गंभीर हो।

यह स्तुति का रूप है। इससे प्रार्थी के मन पर क्या प्रभाव पड़ता है ? उसके हृदय में यही भाव जागृत होगा कि हमें भी शान्ति का जीवन मिले; हमारी आत्मा में भी वह लोकोत्तर ज्योति जागृत हो जाय और हमारा जीवन भी ऐसा गंभीर बन जाय कि बडे से बड़ा विक्षेप भी उसे क्षुब्ध न बना सके। यह भगवान् के आन्तरिक वैभव की स्तुति है।

दूसरी श्रेणी की प्रार्थना होती है भावनाप्रधान। इस श्रेणी की प्रार्थना में भी स्तुति का अंश पाया जा सकता है, तथापि उसका प्रधान स्वर आन्तरिक भावनाओं को अभिव्यक्त करना होता है। इस प्रार्थना में साधक, या प्रार्थी अपने मन को सबल बनाने के लिए शुभ संकल्प करता है। नमूना देखिए:-

सच्चा भगत बन जाऊँ, भगवन् तुम्हारा अब मैं।
क्रोध निकट नहीं आने देऊँ, शस्त्र अचूक क्षमा का लेऊं।
दूर ही मार भगाऊँ, भगवन् तुम्हारा अब मैं ॥सच्चा० ।१।

यह भावना प्रधान स्तुति है। इसमें देवाधिदेव के चरणों में अपनी भावना निवेदन करके मनोबल को सुदृढ़ बनाने और जीवन को विकसित करने के लिए प्रार्थना की गई है।

मानव की मनोदशा सदा एक-सी नहीं रहती। उसमें कभी जागृति की चेतना स्फूर्तिवान् होती है तो कभी सुषुप्ति-जड़ता भी व्याप जाती है। उस जड़ता को दूर करके साधक भावना प्रधान प्रार्थना द्वारा अपने आप को जागृतिमय एवं स्फूर्तिमय बनाने का उद्योग करता है और अपनी भावना को ऊंचा उठाता है।

पौषधशाला में बैठे-बैठे सुबाहु कुमार प्रार्थना करने लगते हैं। वह कहते हैं:—

"धण्णा णं ते गामागर जाव सण्णिवेसा, जत्थ णं समणे भगवं महावीरे विहरइ, धण्णा णं ते राईसर० जे णं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए मुंडा जाव पव्वयंति, धण्णा णं ते राईसर० जे णं समणस्स ३ अंतिए पंचाणु व्वइयं जाव गिहिधम्मं पडिवज्जंति, धण्णा णं ते राईसर० जे णं समणस्स ३ अंतिए धम्मं सुणेंति।"

अर्थात् वे ग्राम, आकर, नगर, निगम, पुर, पाटन धन्य हैं जहां भगवान् विचरते हैं। सुबाहुकुमार ने फिर सोचा वे भाग्यशाली पुरुष धन्य हैं जो सर्वस्व त्याग कर भगवान् महावीर का चरण शरण अंगीकार करते हैं—अनगार बन जाते हैं। पुनः सोचते हैं—वे भी धन्य हैं जो अनगार तो नहीं बन सकते तथापि श्रावक के व्रतों को स्वीकार करते हैं।

अन्त में वह सोचते हैं:—

'जइ णं समणे भगवं महावीरे पुव्वाणुपुव्विं जाव दूइज्जमाणे इहमागच्छेज्जा जाव विहरेज्जा, तत्ते णं अहं समणस्स अंतिए मुंडे भवित्ता जाव पव्वएज्जा।'

अर्थात् यदि श्रमण भगवान् ग्रामानुग्राम विचरते हुए यहां पधार जाएं तो मैं भी उनके चरणमूल में दीक्षित होकर अपना जीवन धन्य बनाऊं।

यह विचार भी भावना प्रधान स्तुति है। सामायिक या पौषध में ऐसी जागरणा होनी चाहिए। साधु-साध्वी सामने न हों तो भी उनकी दिनचर्या का नजारा सामने आ जाना चाहिए। ऐसा होने से भी धर्म ध्यान का नमूना खड़ा हो जाता है।

सुबाहुकुमार की यह भावना प्रधान प्रार्थना इतनी प्रबल हो उठी कि उसकी आवाज दूर तक पहुंची। उस आवाज ने अर्थात् सुबाहुकुमार के मनोबल ने अपना काम किया। उन्होंने जिनके लिए विचार किया था, वे देवाधिदेव भगवान् महावीर ग्रामानुग्राम विचरते हुए पधार गए। इस प्रकार भावनाप्रधान प्रार्थना में भी शक्ति होती है। कहा गया है—

जा पर जाको सत्य सनेहू,
सो ताहि मिले न कछु सन्देहू।

जिस पर जिसकी सच्ची श्रद्धा होती है, वह वस्तु उसे मिल ही जाती है। हां होनी चाहिए श्रद्धा सच्ची, हृदय का आकर्षण तीव्र।

यह भावना प्रधान स्तुति की बात हुई। तीसरे प्रकार की प्रार्थना होती है-याचना प्रधान। इस प्रार्थना में स्तुति और भावना भी विद्यमान रह सकती है, तथापि मुख्यता याचना की ही होती है। इस श्रेणी की प्रार्थना के भी कुछ प्रशस्त नमूने हमारे सामने हैं। कहा है—

साता कीजोजी श्रीशान्तिनाथ प्रभु !
शिवसुख दीजो जी।

प्रारंभ में ही आपने माँग पेश कर दी ! फिर कहा—

ताव तेजरा दुःख दलिद्दर सब मिट जावे जी ।

तो इस प्रार्थना में स्तुतिरूप की प्रधानता नहीं है, भावना रूप की प्रधानता भी नहीं है, इसमें याचना का रूप ही मुख्य है।

याचना प्रधान स्तुति के भी दो विभाग किये जा सकते हैं। एक प्रकार की स्तुति वह है जिसमें अपने आराध्य से आध्यात्मिक वैभव की याचना की जाती है और दूसरे प्रकार की स्तुति वह है जिसमें भौतिक वस्तुओं की याचना की जाती है। कई भाई कहा करते हैं—

शान्तिनाथ जी साता करो ।
दुख—दारिद्र्य दूर करो ।
सुख—सम्पत्ति भण्डार भरो ।

अधिकांश लोग इस प्रकार की प्रार्थना करते हैं। पर थोड़ा विचार करने की आवश्यकता है। गहराई और सावधानी से विचार करेंगे तो आपकी समझ में आ जाएगा कि कौन सी प्रार्थना का क्या दर्जा है ? उक्त प्रार्थनाओं में कौन उत्तम श्रेणी की, कौन सी मध्यम श्रेणी की और कौन सी जघन्य श्रेणी की है ? इस प्रार्थना में भौतिक याचना की गई है।

आध्यात्मिक याचना करने वाली प्रार्थना का रूप है—

(क) आरुग्ग बोहिलाभं समाहिवरमुत्तमं दिन्तु ।

(ख) सिद्धा सिद्धि मम दिसंतु ।

इस प्रार्थना में सम्पूर्ण रूप से याचना प्रस्तुत करके भी केवल आत्मिक गुणों की प्राप्ति की ही याचना है। इस प्रकार की प्रार्थना और ऊपर बताई हुई शान्ति नाथ साता करो, दुख—दारिद्र्य दूर

करो, सुख-सम्पत्ति भण्डार भरो' इस प्रार्थना में क्या अन्तर है, यह बात स्पष्ट रूप से समझ में आ सकती है।

इस प्रकार तीन तरह की मूलभूत प्रार्थनाओं में स्तुति प्रधान प्रार्थना उत्तम है और उसमें भी आत्मिक वैभव की स्तुति जिसमें की जाती है, वही सर्वोत्तम है। एक आचार्य ने कहा :—

उत्तमा स्वात्मचिन्ता स्यान्मोह चिन्ता च मध्यमा।
अधमा कामचिन्ता च, पर चिन्ताऽधमाधमा ॥

प्रार्थ्य के आत्मिक या आन्तरिक वैभव की स्तुति से प्रार्थी को स्वात्मा का विवेक उत्पन्न होता है। वह आत्मिक समृद्धि से परिचित होता है, क्योंकि प्रार्थ्य और प्रार्थी के मूल स्वरूप में समानता है और जब प्रार्थी शुद्ध आत्म स्वरूप को समझ लेता है तो जागतिक पदार्थों की असारता और तुच्छता भी उसकी समझ में आ जाती है और वह उनमें प्रलुब्ध नहीं होता।

इसके बाद उस प्रार्थना का नम्बर आता है जिसमें प्रार्थ्य के बाह्य आकार पर मुग्ध होकर उसकी स्तुति की जाती है। मगर इस प्रकार की प्रार्थना से वीतराग की प्रार्थना का सही चित्र हमारे सामने उपस्थित नहीं होता। जैनेतर परम्पराओं में ऐसी प्रार्थनाओं का बाहुल्य है और उन की देखा देखी जैन परम्परा में भी उनका प्रवेश हो गया है। वैदिक धर्म के कवियों ने बाल कृष्ण को आंगन में खेलाया है तो जैन कवियों ने भी ऋषभदेव को आंगन में खेला दिया है—

"ऋषभ कन्हैया लाला, आंगन में रुम झुम खेले"

मगर इस प्रकार की प्रार्थना निम्न कोटि की प्रार्थना है। ऐसी प्रार्थना से हमें आध्यात्मिक क्षेत्र में ऊँची उड़ान भरने या सफल अभियान करने की प्रेरणा नहीं मिलती। इससे अनुरागात्मक वात्सल्य रस का ही उद्रेक हो सकता है।

करो, सुख-सम्पत्ति भण्डार भरो' इस प्रार्थना में क्या अन्तर है; यह बात स्पष्ट रूप से समझ में आ सकती है।

इस प्रकार तीन तरह की मूलभूत प्रार्थनाओं में स्तुति प्रधान प्रार्थना उत्तम है और उसमें भी आत्मिक वैभव की स्तुति जिसमें की जाती है, वही सर्वोत्तम है। एक आचार्य ने कहा :—

उत्तमा स्वात्मचिन्ता स्यान्मोह चिन्ता च मध्यमा।
अधमा कामचिन्ता च, पर चिन्ताऽधमाधमा॥

प्रार्थ्य के आत्मिक या आन्तरिक वैभव की स्तुति से प्रार्थी को स्वात्मा का विवेक उत्पन्न होता है। वह आत्मिक समृद्धि से परिचित होता है, क्योंकि प्रार्थ्य और प्रार्थी के मूल स्वरूप में समानता है और जब प्रार्थी शुद्ध आत्म स्वरूप को समझ लेता है तो जागतिक पदार्थों की असारता और तुच्छता भी उसकी समझ में आ जाती है और वह उनमें प्रलुब्ध नहीं होता।

इसके बाद उस प्रार्थना का नम्बर आता है जिसमें प्रार्थ्य के बाह्य आकार पर मुग्ध होकर उसकी स्तुति की जाती है। मगर इस प्रकार की प्रार्थना से वीतराग की प्रार्थना का सही चित्र हमारे सामने उपस्थित नहीं होता। जैनेतर परम्पराओं में ऐसी प्रार्थनाओं का बाहुल्य है और उन की देखा देखी जैन परम्परा में भी उनका प्रवेश हो गया है। वैदिक धर्म के कवियों ने बाल कृष्ण को आंगन में खेलाया है तो जैन कवियों ने भी ऋषभदेव को आंगन में खेला दिया है—

"ऋषभ कन्हैया लाला, आंगन में रुम झुम खेले"

मगर इस प्रकार की प्रार्थना निम्न कोटि की प्रार्थना है। ऐसी प्रार्थना से हमें आध्यात्मिक क्षेत्र में ऊँची उड़ान भरने या सफल अभियान करने की प्रेरणा नहीं मिलती। इससे अनुरागात्मक वात्सल्य रस का ही उद्रेक हो सकता है।

तो भौतिक एवं सांसारिक पदार्थों की याचना न करते हुए आत्मिक वैभव की ही याचना करनी चाहिए, जैसे—'सुमति दो सुमतिनाथ भगवन् !'

जैसे किसी बड़े राजा से कौड़ियों की याचना करना बुद्धिमत्ता नहीं है, उसी प्रकार देवाधिदेव से सांसारिक वस्तुओं की द्रव्य, पुत्र, पौत्र आदि की याचना करना भी विवेकशीलता नहीं है। आत्मिक शान्ति प्राप्त होने पर इन सब वस्तुओं का कोई महत्व नहीं रह जाता और इनकी प्राप्ति अनायास ही हो जाती है। इस प्रकार प्रार्थना का रहस्य समझकर जो आध्यात्मिक लाभ की भावना से प्रार्थना करेगा, उसका इहलोक और परलोक सुखमय बन जाएगा।

लाल भवन,
जयपुर
३. ३. ६०

तारतम्य



प्रार्थना किसकी करनी चाहिए ? और वह प्रार्थना कितने प्रकार की है ? यह बतलाया जा चुका है। आज यह देखना है कि किस प्रकार की प्रार्थना आत्मा के लिए शान्ति देने वाली है ?

साधारणतया लौकिक प्रार्थना द्वारा उत्पन्न होने वाले लौकिक विचारों से ऊपर उठकर लोकोत्तर प्रार्थना की ओर ही अपना दृष्टिकोण केन्द्रित करना उचित है। लोकोत्तर प्रार्थना के तीन रूप, स्तुतिप्रधान, भावनाप्रधान एवं याचनाप्रधान, आपके समक्ष रक्खे गये हैं। इनमें से सर्वप्रथम जिस तरफ साधक की दृष्टि केन्द्रित होती है, वह है स्तुतिप्रधान प्रार्थना। इस स्तुतिप्रधान प्रार्थना से साधक भावना प्रधान प्रार्थना में जाता है।

उसकी प्रशंसा कम होती है। इस कारण उनकी ओर आकर्षण भी कम ही होता है। अगर धनी की तारीफ की तरह गुणियों और विद्वानों की तारीफ या महिमा बराबर होती रहे और सुनने में आती रहे तो आपका मन किस तरफ आकर्षित होगा? निस्संदेह आपके मन में गुणों के प्रति और विद्वानों के प्रति आकर्षण उत्पन्न होगा।

तो स्तुति प्रधान प्रार्थना करने से साधक के चित्त में सर्वप्रथम अपने प्रार्थनीय के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो जाने पर उसके अन्तःकरण में इस प्रकार की भावना उत्पन्न होती है–'प्रभो! तेरे अन्दर जो अनन्त ज्ञान है, अनन्त दर्शन है, अनन्त शक्ति है और अनन्त सुख है, वह मेरी आत्मा में भी आविर्भूत हो।'

तत्पश्चात् साधक विचार करता है–'भगवन्! इस संसार में उच्च से उच्चकोटि का जो सुख है और ऊँची से ऊँची जो स्थिति है, वह सब तेरे भीतर केन्द्रित है। तूने जीवन के चरम एवं सर्वोच्च साध्य को प्राप्त करलिया है। असीम अनन्त, अक्षय और अव्याबाध आनन्द का शीतल स्रोत तेरी आत्मा में सतत् प्रवहमाण है। उसके रहते संसार के किसी भी पदार्थ की आवश्यकता और अपेक्षा नहीं रहती।'

इस प्रकार की भावना का रूप जब अन्तःकरण में प्रकट होता है, तब साधक भव ज्वालाओं की भीषणता से मुक्त होते हुए सांसारिक भोगोपभोगों से और उनको प्राप्त करने के साधनों से विरत और विरक्त हो जाता है और वीतरागता की साधना में तत्पर हो जाता है।

तो वीतरागता की साधना में साधक तभी तत्पर होता है

जब वीतराग की महत्ता को वह पूर्ण रूप से जान लेता है और वीतरागता ही उसका एकमात्र साध्य बन जाता है। यही कारण है कि स्तुति प्रधान प्रार्थना में, वीतराग के स्वरूप के प्रति आकर्षण उत्पन्न करने और श्रद्धा को केन्द्रित करने के लिए वीतरागदेव के जीवन की अन्तरंग महत्ता बतलाई जाती है। यही स्तुति प्रधान प्रार्थना का रहस्य है।

पहले कहा जा चुका है कि स्तुति प्रधान प्रार्थना के भी दो भाग हैं, जिनमें से पहला भाग है बाह्य वैभव की स्तुति। बाह्य वैभव की स्तुति वीतराग प्रभु की ओर सर्वसाधारण की चित्तवृत्ति को आकर्षित करने के लिए की जाती है। बाह्य वैभव की स्तुति वीतरागता के उपासक ज्ञानीजनों के लिए नहीं होती, वरन् उन सामान्य जनों के लिए होती है, जो जगत् के अन्य सराग देवी-देवताओं के बाहरी वैभव का वर्णन सुनकर उनकी ओर आकृष्ट हो जाते हैं और धोखा खाते हैं। वे उन देवी-देवताओं के चामत्कारिक एवं अतिशयोक्तिपूर्ण वैभव वर्णन को सुनकर सोचते हैं—फलां देव बड़ी ताकत वाला है, चमत्कारी है, उसके वैभव का क्या ठिकाना है!' ऐसे बहिर्दृष्टिजनों की चित्तवृत्ति को वीतराग देव की ओर खींचने के लिए यह कहा जाता है कि सराग देवी-देवताओं के वैभव का क्या राग अलापते हो, जो देवाधिदेव हैं, इन्द्र जैसे देवराज भी जिनके चरणों में नमस्कार करके अपने को कृतार्थ समझते हैं, उनके अनुपम वैभव को देखो। चौंसठ इन्द्र उनकी सेवा करते हैं। देवविनिर्मित चन्द्रमा से भी अधिक उज्ज्वल तीन छत्र उनके मस्तक पर शोभायमान होते हैं। इन्द्र उनके ऊपर चामर ढोरते हैं, जयजयकार के तुमुल उद्घोष से दिशाएँ गूंज उठती हैं; जहाँ भगवान् गमन करते हैं वहीं अशोक वृक्ष उन पर छाया करता है। उनके भामण्डल की

अनूठी छटा दर्शकों के चित्त को बलात् आकर्षित कर लेती है। देवगण पंचवर्णी सौरभमय सुमनों की वर्षा करके अपना जीवन धन्य मानते हैं। भक्ति से प्रेरित होकर देवगण समवसरण की दिव्य रचना करते हैं, जिसके प्राकार रत्नमय, स्वर्णमय और रजतमय होते हैं। उसमें स्थित गगनस्पर्शी मानस्तम्भ को देखते ही दर्पोन्मत्त प्रतिवादियों का अभिमान गल जाता है।

इस प्रकार के बाह्य वैभव का वर्णन सुनने और पढ़ने से साधक यह समझ जाता है कि हमारे उपास्य परमात्मा में बाह्य वैभव का भी अभाव नहीं है और इस समझ के कारण उसका चित्त डांवाडोल नहीं होता। उसे प्रतीति हो जाती है कि जिस वैभव के कारण मैं दूसरे देवताओं का आदर करता हूं, वह सारा वैभव तो अरिहन्त भगवान् के चरणों में लोटता है। मैं जिन्हें उपास्य समझता हूं वे देवता भी उनके उपासक हैं, दास हैं, किंकर हैं। यही नहीं, अरिहन्तदेव की महत्ता तो इस बात में है कि वे उस असाधारण वैभव को छूते तक नहीं हैं। उसके उपभोग को वृत्ति ही उनमें नहीं है। स्वर्णमय दिव्य छत्र, चामर एवं सिंहासन आदि होते हुए भी भगवान् के मन में उनकी ओर कोई आकर्षण नहीं है। आगे आगे इन्द्रध्वज चल रहा है, देवगण नमन कर रहे हैं, मगर प्रभु का उस ओर ध्यान ही नहीं है। इतना असामान्य वैभव होने पर भी मानो उनके लिए कुछ भी नहीं है! वे न उसका उपभोग करते हैं, न रसास्वादन करते हैं, न उसके कारण गौरव मानते हैं, न उसे प्राप्त करके प्रसन्नता अनुभव करते हैं! जैसे वह सब उनके लिए अतितुच्छ है, या है ही नहीं! ऐसी वीतरागता एवं निस्पृहता अन्यत्र कहां पाई जा सकती है?

अन्य मतों के चक्कर में पड़कर अथवा कषाय से प्रेरित होकर

अज्ञानी प्राणी और अनार्य लोग उन्हें गाली देते हैं, पीटते हैं, सताते है, तब भी भगवान् के मन पर उसका तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसे विरोधी जनों पर भी भगवान् करुणा की ही वर्षा करते हैं। आखिर कौन-सी विभूति उन्हें प्राप्त है कि वे लोकोत्तर बाह्य विभूति में भी लेश-मात्र भी आसक्त नहीं होते और शत्रु मित्र को समान दृष्टि से देखते हैं? निस्सन्देह वह विभूति इस बाह्य विभूति से बढ़कर होनी चाहिए। मगर बाहर तो ऐसी कोई विभूति दृष्टिगोचर होती नहीं, अतएव वह आंतरिक-आध्यात्मिक ही हो सकती है। वह इतनी महान् है कि उसकी तुलना में यह दैवी बाह्य विभूति नगण्य है।

जब साधक के चित्त में इस प्रकार की विचारधारा प्रवाहित होती है तो उसका ख़याल अरिहन्त भगवान् के अंतरंग-वैभव की ओर जाता है और वह उनकी परम वीतरागता की ओर तथा अनन्त चतुष्टय की ओर आकृष्ट होता है। इस प्रकार साधक वीतराग के प्रति प्रगाढ़ आस्था लेकर उनके आंतरिक वैभव के विचार के लिए प्रेरित होता है और उस समय उसके हृदय से जो उद्‌गार निकलते हैं, वे आन्तरिक वैभव की स्तुति बन जाते हैं।

यही बाह्य वैभव की स्तुति से आन्तरिक वैभव की स्तुति में जाने का मानसिक क्रम है।

जैनदर्शन की यह मूलभूत मान्यता है कि प्रत्येक आत्मा स्व-भाव से समान है। चाहे सिद्ध परमात्मा हो या संसार में परि-भ्रमण करने वाला साधारण जीव, दोनों में समान गुण धर्म विद्यमान हैं। अन्तर है केवल विकास के तारतम्य का। आत्मा के आन्तरिक वैभव की इस समानता को समझने वाला साधक

थ भगवान् के आन्तरिक वैभव की स्तुति करता है तो अना
ही उसके चित्त में यह भावना उत्पन्न हो जाती है कि
आत्मा में भी उसी वैभव का विकास हो जिसके कारण भग
को परमात्मपद की प्राप्ति हुई है।

इस प्रकार भावनाप्रधान जीवन का रूप जब सामने आ
है, तब साधक भावना प्रधान प्रार्थना के स्तर पर आ खड़ा हो
है, स्तुतिप्रधान प्रार्थना से भावनाप्रधान प्रार्थना में आने
और भावना का रूप दृढ़ एवं प्रगाढ़ होने पर जीवन का
दुःखों से शाश्वत सुख की ओर बदल जाता है और फिर उ
स्थायित्व आ जाता है।

समस्त दुःखों का मूल अज्ञान है। जब तक अज्ञान की स
है, दुःख का अंत नहीं आ सकता। अतएव दुःख का आत्यन्ति
विघात करने के लिए अज्ञान का विघात करना पड़ता है अ
अज्ञान का विघात ज्ञान के द्वारा ही हो सकता है। इसीलिए क
राज विनयचन्द्र ने कहा है :—

आर्त्त रौद्र परिणामथी, उपजे चिन्ता अनेक।
ते दुःख कापो मानसिक, आपो अचल विवेक॥
जय २ जिन त्रिभुवनधणी।

यह शीतलनाथ भगवान् की प्रार्थना है। इस प्रार्थना में क
कहते हैं—'भगवन्! मेरे मानसिक दुःख को नष्ट कर दो।' यह
तो याचना की बात हुई, मगर इसमें कुछ विशेषता है, दुःख
को किस प्रकार नष्ट करो? दया-दृष्टि डालने से दुःखों क
विनाश हो जाएगा अथवा कुछ चमत्कार करने से नाश हो
जाएगा? नहीं। वह कहते हैं—

आपो अचल विवेक।

मेरे भीतर एक दीपक है जो टिमटिमा रहा है और गुल होने जा रहा है, उसे संजो दीजिए, विवेक-प्रदीप को प्रज्वलित कर दीजिए। विवेक-दीप प्रज्वलित होने से मन का अन्धकार दूर हो जाएगा, भावालोक प्रस्फुटित होगा और तब दुःखों का स्वतः प्रलय हो जाएगा। मन में ज्ञानालोक का उदय होने पर सारी विचारधारा पलट जाएगी और जिसे मैं आज दुःख मान रहा हूं, उसी को सुख समझने लगूंगा।

वास्तव में सांसारिक सुख और दुःख मन के विकल्प हैं—मानसिक वेदन मात्र हैं। एक मनुष्य दुःख का अनुभव कर रहा है, क्योंकि उसका पड़ोसी लखपति है, उसके यहां मोटर है; जबकि उस मनुष्य के पास तांगा भी नहीं है। यह सोचकर वह भीतर ही भीतर सिसकियां भर रहा है।

एक बाई यह सोचकर दुःखी है कि मेरी पड़ौसिन के पांच लड़के हैं, वे एक से एक बढ़कर हैं, पढ़े-लिखे हैं और जब बातें करते हैं या खेलकूद करते हैं तो देखकर नयन और जीवन धन्य मालूम होने लगते हैं। मगर मेरे एक भी लड़का नहीं है।

इस प्रकार अपने से अधिक अच्छी स्थिति वालों को देखकर लोग ईर्ष्या प्रेरित होकर दुःख का अनुभव करते हैं। यह मानसिक दुःख है। इसे दूर करने के लिए विवेक के प्रकाश की आवश्यकता है। जिसे विवेक का आलोक प्राप्त होगा, वह अपने से अधिक हीन स्थिति-वालों को देखकर अनायास ही संतोष प्राप्त कर सकेगा—या पर पदार्थों के संयोग-वियोग के साथ अपने सुख दुःख का संबंध ही नहीं जोड़ेगा। वह अगर महिला है तो सोचेगी—मेरे

तो पुत्र ही नहीं हैं, मगर पति तो है। मेरी अमुक पड़ौसिन तो बेचारी पति से भी विहीन है। मैं तीन मंजिलवाली हवेली में रहती हूं, दूसरी को तो झौंपड़ी भी प्राप्त नहीं है।

इस प्रकार विचार करने वाली बाई की तड़फन, और उसकी सिसकियां मिट जाएंगी या नहीं ?

अरे भाई ! तू मोटर वाले को देखकर अपने चित्त में ईर्षा का दावानल सुलगाता है और उसकी जलन से छटपटाता है, मगर उन हजारों-लाखों को क्यों नहीं देखता जो पूरी तरह निराश्रय हैं और फुटपाथ पर लेट कर तथा हाथ का सिरहाना लगा कर रातें काटते हैं। दिन भर दर-दर भटकने पर भी जो पेट की ज्वाला को शांत करने के लिए रूखे-सूखे टुकड़े भी पर्याप्त मात्रा में नहीं पाते।

तो इस दुःख का मूल क्या है ? अज्ञान। यदि अज्ञान दूर हो जाय और विवेक का प्रदीप प्रज्वलित हो उठे तो दुःख नदारद हो जायगा। इसके विपरीत, जब तक अज्ञान विद्यमान है, दुःख का निवारण होना असंभव है। इसी कारण भक्त ने 'भगवान्‌से प्रार्थना की—

आपो अचल विवेक।

प्रभो ! मुझे और कुछ नहीं चाहिए, सांसारिक वैभव की मुझे आवश्यकता नहीं है—

हाथी न माँगूँ घोड़ा न माँगूँ, नहि माँगूँ कछु राज।
धन दौलत परिवार न माँगूँ, नहि माँगूँ सरगनो राज।

प्रभुजी ! सुं कहिय न मांगूँ राज !
मोरी राखी लीजो प्रभु लाज ।
जिनजी सूं कहिय न मांगूँ राज ॥

यहां पर प्रभु से कुछ भी न मांगने की बात कही गई है। मगर भक्त के चातुर्य को देखिए कि उसने एक तरफ तो कुछ भी न मांगने की बात कही है, पर दूसरी तरफ कुछ मांग भी लिया है। वह कहता है-मैं हाथी नहीं मांगता, घोड़ा नहीं मांगता, राज्य भी नहीं मांगता। मुझे धन भी नहीं चाहिए, परिवार की भी मैं याचना नहीं करता, यहां तक कि स्वर्ग के साम्राज्य की याचना भी नहीं करता। तो फिर क्या मांगता हूं? निज गुण कह दीजिए, शिवपुर कह दीजिए या मुक्ति कह दीजिए, बस वही शिवपुर का राज्य मैं चाहता हूं। प्रभो ! शिवपुर के साम्राज्य पर मेरा अधिकार है, मगर मैं अपने अधिकार से वंचित हो रहा हूं। वह मेरा घर है, पर घर का स्वामी होकर भी मैं घर में नहीं घुस पा रहा हूं। कर्मरिपु उसमें बाधक हो रहे हैं। अतएव हे प्रभो ! मैं आपसे केवल यही मांगता हूं कि मुझे अपने घर में भेज दीजिए। मैं कोई पराई वस्तु नहीं मांगता, अपनी ही चीज की याचना करता हूं।

कोई किरायेदार आपके मकान पर कब्जा कर ले और आप अदालत में जाकर मांग करो कि मकान मेरा है, और इसने जबर्दस्ती कब्जा कर लिया है। मेरा मकान मुझे मिलना चाहिए। तो आपकी यह मांग अदालत की दृष्टि में अनुचित नहीं हो सकती, इसी प्रकार परमात्माके इजलास में भक्त की मांग है कि मुझे अपने घर का स्वामित्व प्राप्त होना चाहिए, अर्थात् मेरी आत्मा पर कर्म-किरायेदारों का अधिकार न हो कर मेरा ही अधिकार होना चाहिए।

जब आत्मशुद्धि-मुक्ति की ओर दृष्टि केन्द्रित हो जाती है तो समस्त दुःखों का कारण दूर हो जाता है। इस तथ्य को समझ कर भक्त कहता है—भगवन् ! मैंने कर्मों के विरुद्ध जो मोर्चा लगाया है, उससे पीछे न हटना पड़े। मेरी लाज रह जावे।

अगर कोई मोहग्रस्त सांसारिक प्राणी होता तो वह कहता—'प्रभो ! मैंने उच्च न्यायालय(हाई कोर्ट)में एक मामला पेश कर दिया है। उसमें किसी तरह मेरी लाज रह जाय और मैं मामला जीत जाऊं। ऐसी प्रार्थना करने वाले बहुत भक्त मिल जाएंगे, मगर यह प्रार्थना का सही रूप नहीं होगा।

जिसे अचल विवेक प्राप्त हो गया है, ऐसा भक्त मामले-मुकदमे में विजय पाने के लिए प्रभु से प्रार्थना नहीं करता। वह तो यही कहता है—हे दीनानाथ ! दुनिया के लोग मेरे दुश्मन नहीं हैं, मेरे दुश्मन तो मेरे कर्म ही हैं। मैंने उन्हीं के विरुद्ध मोर्चा लगाया है और उन्हीं को पराजित करने के लिए आपके पृष्ठबल की याचना करता हूं। प्रभो ! आपका पृष्ठबल मुझे प्राप्त होगा तो कर्म-शत्रुओं को पछाड़ने में मुझे देर नहीं लगेगी। जैसे आपने उन्हें पछाड़ा है, उसी प्रकार मैं भी कुछ ही समय में उन्हें पछाड़ दूंगा।

इस प्रकार स्तुतिप्रधान प्रार्थना से भावनाप्रधान प्रार्थना में जाने में यह लक्ष्य निहित होता है।

भावनाप्रधान प्रार्थना के कारण, पूर्वभव में जाने हुए भगवान् महावीर के विषय में, नन्दन मणियार के जीव ने, जो मेंढक के पर्याय में था, जब सुना कि भगवान् राजगृह नगर के उद्यान में पधारे हैं तो वह बावड़ी से बाहर निकलता है। भगवान् की

महिमा को सुनकर और पूर्वजन्म की भावना प्रधान प्रार्थना के संस्कारों से प्रेरित होकर वह भगवान् की वन्दना के लिए जाने को उद्यत हुआ। उधर राजा भी अपनी हाथी-घोड़ों की सेना के साथ जारहा था। मेंढ़क अपनी चाल से थोड़ी दूर तक चला, मगर रास्ते में एक घोड़े की टाप से कुचल गया। वह आगे न जा सका और घायल हो गया। इस स्थिति में वह अपने शरीर को एक ओर ले जाता है और मृत्यु सन्निकट जान कर भावनाप्रधान स्तुति करने लगता है–

'नमोत्थुणं अरिहंताणं, भगवंताणं जाव संपत्ताणं।'

फिर कहता है–

'नमोत्थुणं समणस्स भगवओ महावीरस्स
जाव संपाविउकामस्स।'

इस प्रकार वह प्रथम मुक्ति प्राप्त सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार करता है और दूसरी बार अरिहन्त भगवन्तों को। तत्पश्चात् वह कहता है–प्रभो! वहीं विराजमान आप यहां स्थित मुझको देख रहे हैं। मैं तन से आप से दूर हूँ तथापि मेरा मन आपके चरणों में लीन है। फिर वह मेंढ़क क्या भावना करता है? भगवान्! आपने अपने वैरी को, कानों में कीलें ठोंकने वाले को भी कड़ी नजर से नहीं देखा तो अनजान में मुझे टाप से घायल करने वाले और मरणासन्न बना देने वाले घोड़े को अपना शत्रु क्यों समझूं? मेरा न घोड़े पर वैरभाव है और न घुड़सवार पर वैरभाव है। मेरे असली वैरी मेरे अपने कर्म ही हैं। प्रभो! अन्तिम समय में मेरी यही कामना है कि मेरे अन्तःकरण में तुम्हारा ही स्मरण रहे, तुम्हारा ही ध्यान रहे। प्रभो! मुझे ऐसा

आत्मबल प्रदान करो। मैं तुम्हारी साक्षी से अठारहों पापों का परित्याग करता हूं–

'सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खामि
जाव मिच्छादंसण सल्लं पच्चक्खामि।'

साथ ही–'मैं शुद्ध सच्चिदानन्दमय हूं, शरीर आदि समस्त जड़ पदार्थों से पृथक् हूँ, इस संकल्प के साथ मैं अशन, पान, खादिम और स्वादिम चार प्रकार के आहार का परिहार करता हूं। अब मुझे तुम्हारी ही शरण है। ऐ देवाधिदेव ! मैं तुम्हारी ही शरण ग्रहण करता हूँ। हे नाथ ! तुम मेरी इस भावना को स्वीकार करना।'

भावनाप्रधान प्रार्थना के विमल शीतल सुधास्रोत में अवगाहन करके वह मेंढ़क कुछ ही क्षणों में अपनी जीवनलीला समाप्त करता है और स्वर्ग में देव रूप में उत्पन्न होता है।

यह है स्तुतिप्रधान प्रार्थना से भावना प्रधान प्रार्थना में जाने का महत्व।

इस प्रकार प्रार्थना के रहस्य को और प्रार्थनाओं के क्रम एवं तारतम्य को भली भांति समझकर स्तुतिप्रधान प्रार्थना से भावना प्रधान प्रार्थना में आना चाहिए और जीवन के छिपे हुए तत्व को, आत्मा की सोई हुई शक्तियों को जगाना चाहिए। ऐसा करने से उस अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति होगी, जिसकी प्राप्ति के बाद याचना की आवश्यकता ही नहीं रहती।

संसार व्यवहार में जब कोई किसी के समक्ष प्रार्थी बनकर जाता है, तब प्रार्थनीय प्रार्थी को कुछ ऐसी साधारण सी वस्तु

देता है जिससे प्रार्थी उसके दर्जे पर न पहुंचे। प्रार्थी व्यापारी के पास जाता है और व्यापारी यदि प्रसन्न हो जाता है तो प्रार्थी को कुछ कमाई करवा देता है और सन्तुष्ट कर देता है। वह अपनी बराबरी के दर्जे पर उसे नहीं पहुंचाता। मगर वीतराग की प्रार्थना में विशेषता यह है कि प्रार्थी प्रार्थ्य के समान ही बन जाता है। इस प्रकार की उदारता सिर्फ वीतराग में ही है। आप पांच लाख के धनी हैं और आपके समक्ष कोई अभ्यर्थना लेकर आता है तो आप उसे पच्चीस-पचास या बहुत देंगे तो हजार दो हजार रुपये दे देंगे। अपनी सारी सम्पत्ति हर्गिज नहीं देंगे—बिलकुल अपने समान नहीं बनाएंगे।

प्रार्थी किसी अफसर के पास जाता है तो वह भी उसे अपनी समानता का दर्जा नहीं देता। कोई छोटी-मोटी नौकरी देकर ही अहसान लाद देता है। मगर वीतराग देव की बात निराली है। वे छोटे-मोटे या अपने से कम दर्जे की बात नहीं सोचते। जो प्रार्थी उनके चरणकमलों का आश्रय लेता है, वे उसे अपने ही समान वीतराग बना लेते हैं। उसमें कुछ भी कमी नहीं रहने देते। इसीलिए तो वीतराग देव ही प्रार्थनीय हैं।

वीतराग की प्रार्थना से आत्मा को एक सम्बल मिलता है, आत्मा को एक शक्ति प्राप्त होती है। जो साधक प्रार्थना के रहस्य को समझकर आत्मिक शान्ति के लिए प्रार्थना करता है, उसकी समस्त आधि-व्याधियां दूर हो जाती हैं, चित्त की आकुलता और व्याकुलता नष्ट हो जाती है और वह परमपद का अधिकारी बन जाता है। अगर आप ठीक ढंग से प्रार्थना करेंगे तो इह-परलोक में कल्याण के भागी होंगे।

लालभवन,
जयपुर
४-३-६०

अपनी क्षुधा निवृत्त कर सकता है, परन्तु दूसरा, जो बुद्धिमान् है, किसी राजा-रईस के सामने पहुंच कर यही सोचेगा कि मुझे तो सदा के लिए दरिद्रता दूर करनी है। अतएव मैं ऐसी चीज़ क्यों न मांग लूं कि दूसरी जगह भटकना ही न पड़े? और वह राजा भी उसकी मांग पूरी करके उसके लिए स्थायी रोटी की व्यवस्था कर देगा और उसे इस योग्य बना देगा कि किसी दूसरे के सामने हाथ पसारने की आवश्यकता ही न रह जाए। यह तो सांसारिक प्रार्थना की बात हुई।

इसी प्रकार देव भी दो प्रकार के हैं। प्रथम वह जो दो रोटियों की तरह संसार की छोटी-मोटी वस्तु देने में निमित्त बनते हैं और दूसरे हैं देवाधिदेव। देवाधिदेव या परमदेव वे हैं जो वीतराग हैं और इन्द्र अहमिन्द्र भी जिनके चरणों की उपासना करके अपना अहोभाग्य मानते हैं।

आपने सुना होगा कि सुरेन्द्रों और नरेन्द्रों द्वारा चरणों में प्रणाम करने पर भी परम देव को लेश मात्र भी अहंकार नहीं उत्पन्न होता। अहंकार की वहां पहुंच नहीं है, बड़प्पन की भावना का वहां स्पर्श नहीं है।

आचार्य मानतुंग की भाषा में कहा जा सकता है कि सुरेन्द्रों और नरेन्द्रों के मुकुट की मणियां भी भगवान् के चरणों की कान्ति से चमक उठीं। भक्तामरस्तोत्र के प्रारंभ में ही आप पढ़ते हैं—

भक्तामर प्रणत मौलि मणि प्रभाणाम्।
उद्योतकं दलित पाप तमो वितानम्॥

आचार्य ने बतलाया है कि भगवान् के चरण कैसे हैं? वे

'मणिप्रभाणामुद्योतकम्' हैं; अर्थात् भक्ति से प्रेरित हो कर देव जब प्रभु के चरणों में झुकते हैं, तब उनके मुकुटों में जटित मणियों पर भगवान् के चरणों की प्रभा पड़ती है। उस प्रभा से वे मणियां चमक उठती हैं। यद्यपि देवेन्द्रों के मुकुट की मणियां दिव्य हैं, उत्तम हैं और उनमें अपनी निजी चमक की कमी नहीं है, तथापि भगवान् के चरणों की प्रभा की तुलना में वे फीकी हैं, प्रभाविहीन हैं और इसी कारण भगवान् के चरणों की असाधारण कान्ति पाकर वे चमक उठती हैं। यह नहीं है कि मुकुटमणियों से भगवान् के चरण चमकने लगे, बल्कि उनकी चरण-कान्ति से वे मणियां ही चमकने लगती हैं।

यह भगवान् के चरण-कमलों की विशेषता है, किन्तु इससे भी बड़ी विशेषता दूसरी है, जिसका आचार्य श्री ने आगे उल्लेख किया है। भगवान् के चरणकमल—'दलितपापतमो वितानम्' हैं। अर्थात् भगवान् के चरणों के लोकोत्तर प्रकाश की असाधारण महिमा तो यह है कि वे, चन्द्रमा की ज्योत्स्ना को आवृत करने वाले मेघपटल के समान भक्तों की आत्मा की उज्ज्वलता को आच्छादित करने वाले पाप रूप अन्धकार के समूह को समूल विनष्ट कर देते हैं।

अब आप विचार कीजिए कि भक्त भगवान् को किस रूप में देख रहा है? किस स्वरूप में सोच रहा है? यह प्रार्थना स्तुति-प्रधान होने पर भी भावना की ओर ले जाने वाली है और भावना की ओर बढ़ता हुआ भक्त इस प्रकार की प्रार्थना से भगवान् के लोकोत्तर स्वरूप को समझ कर भक्ति के अनिर्वचनीय आह्लाद में निमग्न हो जाता है; ऐसे आह्लाद में जिसकी तुलना में विषय जनित सुख तुच्छ और नगण्य हो जाता है।

कविवर विनयचंद्रजी कहते हैं:-'भगवन् ! आप की प्रार्थना करूं तो कैसे करूं ? आपके पारमात्मिक गुणों की तुलना करने के लिए संसार में कोई वस्तु ही दृष्टिगोचर नहीं होती। विश्व की कोई भी वस्तु आपके किसी भी गुण की तुलना में नहीं ठहरती। 'सागरः सागरोपमः' की उक्ति के अनुसार आपका स्वरूप, हे प्रभो ! आपके ही स्वरूप के समान है। इस प्रकार विचार कर वह प्रभुप्रार्थना का तरीका बतलाते हैं—

मन वच काय लाय प्रभु सेती,
निस-दिन सास-उसास्यां ।
संभव जिनजी की मोहनी मूरति,
हिये निरन्तर ध्यास्यां ।
राज ! आज म्हारा सम्भव जिनजी रा,
हित चित सूं गुण गास्यां ॥

यह भी कहते है—

मधुर मधुर स्वर राग अलापी,
गहरे शब्द गुंजास्यां राज।
आज म्हारा संभव जिनजी रा,
हित चित सूं गुण गास्यां राज ॥

यह भावना प्रधान स्तुति का छोटा सा उदाहरण है । यहां भगवान् के बाह्य रूप का या आन्तरिक रूप का स्तुति रूप में कथन करने का प्रयत्न नहीं किया गया है। यहां स्तुतिकार इस

भावना से चल रहा है कि हम भगवान् की प्रार्थना किस प्रकार करें ?

मन वच काय लाय प्रभु सेती ।

कवि एक निष्ठा को लेकर कहता है कि भगवन् मैं अपने मन को, वाणी को और काया को संजो कर—

निश दिन सास उसास्यां ॥

चाहे रात्रि हो या दिन हो, मगर मेरा एक भी श्वास खाली न जाए। जब श्वास लूं तो भी आपका स्मरण हो और श्वास बाहर निकालूं तब भी आपका स्मरण हो।

जो भोगप्रधान वृत्ति वाला होगा और जिसका जीवन जड़ता से जकड़ा हुआ होगा, उसका श्वास-उच्छ्वास के साथ दूसरे ही प्रकार का भजन चलेगा। वह निरन्तर 'हाय धन, हाय धन' ही रटता रहेगा। इसके अतिरिक्त जिसका जीवन प्रभु में संलग्न बन गया है, परमात्मामय हो चुका है और जिसने भगवद् भक्ति के मस्त आनन्द का एक बार रसास्वादन कर लिया है, उसके प्रत्येक श्वास उच्छ्वास में क्या भजन होगा ? 'जिन ! जिन !' उसके हृदय की तन्त्री से 'जिन' का ही संगीत मुखरित होगा।

हां, तो कवि कहता है—प्रभो ! आपकी मोहिनी मुद्रा का ही निरन्तर अन्तर में ध्यान करता रहूं। भगवन् ! आपका अंतर-जीवन भी सुन्दर है और आपकी बाह्य मुद्रा भी सुन्दर है, सौम्य है और उस पर वीतरागता की अनूठी आभा दमकती है। मैं उसी का चिन्तन करूं। उसका हृदय में ध्यान करूं और यही मेरा कर्म

बन जाय। और वह भी निरन्तर का कर्म हो, कभी कभी का नहीं। जब निरन्तर वीतराग का ध्यान लगा कर चलूँगा और प्रतिदिन प्रभात काल में यही संकल्प करूँगा तो मेरा सारा ही दिन शुभ भावना में व्यतीत होगा।

मनुष्य प्रातःकाल में यदि कोई संकल्प करके निकलता है, तो दिन भर वह संकल्प उसके लिए सहायक होता है। हमारे कार्यों पर संकल्प का प्रभाव परिलक्षित होता ही है। यहां तक कि रात्रि में सुषुप्ति के समय भी आपका मन उसी संकल्प को लेकर चलता है। संकल्प के बल को समझने के लिए यही उदाहरण पर्याप्त है कि यदि आपने यह संकल्प कर लिया है कि मुझे चार बजे उठना है और अमुक व्यक्ति से मिलना है, तो ठीक चार बजे आपकी निद्रा भंग हो जाती है। रात्रि में कदाचित् स्वप्न आएगा तो वह भी उसी संकल्प से प्रेरित होगा। आप देखेंगे कि उस व्यक्ति से मिलने गया हूं अथवा जा रहा हूं।

मन की ऐसी स्थिति है। बाह्य मन के साथ अन्तर्मन भी वैसा ही काम करता है। रात्रि में, सोने से पहले, जो संकल्प किया है, सोकर उठने तक वही विचार भीतर ही भीतर काम करता है। इसी प्रकार प्रातः काल आप जो विचार करेंगे, जिस भावना को लेकर चलेंगे, आपकी वही भावना दिन भर की चर्या को

दतौन का चिन्तन किया, तेल, साबुन और तोलिया याद आया, अखबार का ध्यान किया तो आपका दिन भर का कार्यक्रम बेकार जाएगा और आपकी भावना पर उसी प्रकार का असर छाया रहेगा।

आज बहुत लोग इसी गलत रास्ते पर चल रहे हैं और गलत आदतों में पड़े हुए हैं। गृहस्थ जीवन की लाचारी से कोई काम करना तो समझ में आ सकता है, मगर क्या यह भी जीवन की अनिवार्य आवश्यकता का अंग है कि प्रातःकाल उठते ही 'बेड-टी' (बिस्तर की चाय) को याद किया जाय, खाट पर बैठे-बैठे ही चाय-पान किया जाय, और सिगरेट फूंकी जाय? नहीं, ऐसी बात नहीं है। यह जीवन की आवश्यकता नहीं, बर्बादी का कारण है। पुराने लोग भी अपना काम करते थे, जीवन व्यवहार निभाने के लिए नाना प्रकार की आजीविकाएँ करते थे, फिर भी जो काम जिस समय करणीय हो, उसे उसी समय किया करते थे। यहाँ तक कि चिट्ठी-पत्री का काम हुआ तो उसे भी नियत समय पर ही किया करते थे। उनका सब काम नियमित होता था। प्रातःकाल उठे, सामायिक की, भगवान् का भजन किया, प्रार्थना की, धर्माराधना की। तत्पश्चात् अन्य शारीरिक कृत्य करके भोजन किया और फिर आजीविका संबंधी काम पर लगते थे।

अजमेर के सेठ मगनमलजी के कार्यक्रम का नमूना हमने देखा है। प्रातःकालीन व्याख्यान श्रवण करने के बाद वे भोजन करते थे और भोजन के बाद थोड़ा टहलते थे। टहलने के समय ही आई हुई चिट्ठी-पत्रियों का काम निपटा लेते थे। इस प्रकार टहलना भी हो जाता और पत्र पढ़ कर शान्त चित्त से उन

बन जाय। और वह भी निरन्तर का कर्म हो, कभी कभी का नहीं। जब निरन्तर वीतराग का ध्यान लगा कर चलूँगा और प्रतिदिन प्रभात काल में यही संकल्प करूँगा तो मेरा सारा ही दिन शुभ भावना में व्यतीत होगा।

मनुष्य प्रातःकाल में यदि कोई संकल्प करके निकलता है, तो दिन भर वह संकल्प उसके लिए सहायक होता है। हमारे कार्यों पर संकल्प का प्रभाव परिलक्षित होता ही है। यहां तक कि रात्रि में सुषुप्ति के समय भी आपका मन उसी संकल्प को लेकर चलता है। संकल्प के बल को समझने के लिए यही उदाहरण पर्याप्त है कि यदि आपने यह संकल्प कर लिया है कि मुझे चार बजे उठना है और अमुक व्यक्ति से मिलना है, तो ठीक चार बजे आपकी निद्रा भंग हो जाती है। रात्रि में कदाचित् स्वप्न आएगा तो वह भी उसी संकल्प से प्रेरित होगा। आप देखेंगे कि उस व्यक्ति से मिलने गया हूं अथवा जा रहा हूँ।

मन की ऐसी स्थिति है। बाह्य मन के साथ अन्तर्मन भी वैसा ही काम करता है। रात्रि में, सोने से पहले, जो संकल्प किया है, सोकर उठने तक वही विचार भीतर ही भीतर काम करता है। इसी प्रकार प्रातः काल आप जो विचार करेंगे, जिस भावना को लेकर चलेंगे, आपकी वही भावना दिन भर की चर्या को प्रभावित एवं प्रेरित करेगी। इसी कारण ज्ञानी जनों का कहना है कि प्रभात के समय अवश्य वीतराग का ध्यान करो, चिन्तन करो, स्मरण करो और वीतराग की प्रार्थना करके बल प्राप्त करो।

अगर आप प्रभात में भी सोये पड़े रहे, और यदि उठे भी तो बीड़ी सिगरेट को याद करने लगे, चाय का स्मरण किया,

दतौन का चिन्तन किया, तेल, साबुन और तौलिया याद आया, अखबार का ध्यान किया तो आपका दिन भर का कार्यक्रम बेकार जाएगा और आपकी भावना पर उसी प्रकार का असर छाया रहेगा।

आज बहुत लोग इसी गलत रास्ते पर चल रहे हैं और गलत आदतों में पड़े हुए हैं। गृहस्थ जीवन की लाचारी से कोई काम करना तो समझ में आ सकता है, मगर क्या यह भी जीवन की अनिवार्य आवश्यकता का अंग है कि प्रातःकाल उठते ही 'बेड-टी' (बिस्तर की चाय) को याद किया जाय, खाट पर बैठे-बैठे ही चाय-पान किया जाय, और सिगरेट फूंकी जाय? नहीं, ऐसी बात नहीं है। यह जीवन की आवश्यकता नहीं, बर्बादी का कारण है। पुराने लोग भी अपना काम करते थे, जीवन व्यवहार निभाने के लिए नाना प्रकार की आजीविकाएँ करते थे, फिर भी जो काम जिस समय करणीय हो, उसे उसी समय किया करते थे। यहां तक कि चिट्ठी-पत्री का काम हुआ तो उसे भी नियत समय पर ही किया करते थे। उनका सब काम नियमित होता था। प्रातःकाल उठे, सामायिक की, भगवान् का भजन किया, प्रार्थना की, धर्माराधना की। तत्पश्चात् अन्य शारीरिक कृत्य करके भोजन किया और फिर आजीविका संबंधी काम पर लगते थे।

अजमेर के सेठ मगनमलजी के कार्यक्रम का नमूना हमने देखा है। प्रातःकालीन व्याख्यान श्रवण करने के बाद वे भोजन करते थे और भोजन के बाद थोड़ा टहलते थे। टहलने के समय ही आई हुई चिट्ठी-पत्रियों का काम निबटा लेते थे। इस प्रकार टहलना भी हो जाता और पत्र पढ़ कर शान्त चित्त से उन

पर विचार करने का अवसर भी मिल जाता। इसके पश्चात् ही वे गादी पर जाकर बैठते थे और कारबार करते थे।

मगर आज इस प्रकार की नियमितता कहाँ है ? आज लोगों की दिनचर्या गड़बड़ में पड़ गई है। प्राचीन काल के गृहस्थ धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों का सेवन करते हुए इस बात का ध्यान रखते थे कि इनमें किसी प्रकार का व्याघात उपस्थित न हो। किसी भी पुरुषार्थ के सेवन से दूसरे पुरुषार्थों में बाधा न पहुंचे। इस दृष्टिकोण के कारण वे अर्थ और काम पुरुषार्थ का सेवन करते तो धर्म का भी बराबर खयाल रखते थे। इस प्रकार उनके जीवन में एक प्रकार की सुसंगति थी। मगर आज वह सुसंगति, विसंगति के रूप में परिणत हो गई है। आज के लोग अर्थ और काम के सेवन में इस प्रकार तन्मय हो जाते हैं कि उन्हें धर्म का स्मरण ही नहीं रहता। मगर धर्म को बाधा पहुँचा कर अर्थ और काम का सेवन करना जीवन की पंगुता है और पंगु जीवन अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर नहीं हो सकता।

मेरा आशय यह नहीं है कि आप मनोविनोद न करें अथवा समाचार पत्र न पढ़ें। संसार की वर्तमान स्थिति से परिचित रहना भी आपको आवश्यक हो सकता है। किन्तु प्रातःकाल के उपयोगी समय का यदि आप दुरुपयोग करते हैं और उस समय ईश्वर आराधना एवं धर्मक्रिया नहीं करते तो मैं समझता हूँ कि आपके मन और आत्मा पर कोई सुन्दर और सबल असर नहीं पड़ेगा।

प्रभातकाल शक्तिसंचय के लिए अनुकूल अवसर है। वह 'पावर-हाउस' से 'पावर' लेने का समय है। अतएव उसका अच्छे से अच्छा उपयोग करना चाहिए। शरीर की स्वस्थता और मन

की शान्ति प्रभात के सदुपयोग की देन है। मानसिक शान्ति के लिए प्रभुस्मरण और प्रार्थना अत्यावश्यक है। अतएव वह समय इसी में व्यतीत करना चाहिए। कवि ने कहा है—

संभव जिन जी की मोहिनी मूरति,
हिये निरन्तर ध्यास्यां राज।

प्रभो ! मैं आपकी प्रशान्त मुद्रा और वीतराग छवि का निरन्तर ध्यान करूँगा। मगर किस प्रकार ध्यान करूँगा, यह भी बतलाया गया है—

ऊवट पंथ तजी दुर्गति को, शुभ गति पंथ समास्यां।
आगम अर्थ तरणे अनुसारे, अनुभवदशा अभ्यास्यां राज ॥

आप जहाँ खड़े हैं, वहाँ से दो विरोधी दिशाओं में दो मार्ग जाते हैं। एक ऊबड़खाबड़ मार्ग है, ऊवट पंथ है, उसे भवमार्ग कहना चाहिए, दूसरा सन्मार्ग है जिसे शिवमार्ग भी कह सकते हैं। प्रार्थना करते हुए विनय चंद्रजी कहते हैं—'भगवन् ! मैं ऊवट मार्ग पर नहीं चलूँगा, क्योंकि वह मार्ग दुर्गति की ओर ले जाने वाला है।

ऊवट रास्ता कषाय का मार्ग है—क्रोध का पथ है। सुबह उठते ही किसी से झगड़ा मोल ले लिया। इधर पानी क्यों डाल दिया ? गन्दगी क्यों गिरा दी ? हमारे दरवाजे की तरफ पानी क्यों निकाल दिया ? यह नाले का मुँह इधर क्यों मोड़ दिया ? तुम्हारे बच्चे ने इधर टट्टी पेशाब कैसे कर दी ? प्रातःकाल हुआ और यहीं सब रामायण शुरू हुई ! बाबा, लंबा समय पड़ा है। फिर सुबह ही सुबह क्या झगड़ना ! इस समय तो भगवान् का नाम ले।

प्रार्थना का लक्ष्य

उठ भोर भई, टुक जाग सही,
भज वीर प्रभु, भज वीर प्रभु !

अभी-अभी आपने प्रार्थना पाठ किया है। कुछ प्रार्थनाएं ऐसी होती हैं, जिनका सीधा संबंध अपने से नहीं, दूसरों से होता है। अभी आपने जो प्रार्थना बोली है, वह भी आपाततः इसी कोटि की प्रतीत होती है, मगर विचार करने से विदित होगा कि इस प्रार्थना का संबंध अपने ही साथ है। इस प्रार्थना में प्रार्थी ने अपनी आत्मा को उद्बोधन किया है। अपने मन को भगवान् महावीर का भजन करने के लिए प्रेरित किया है। इसमें आपने आपको जगाने का प्रयत्न किया गया है। प्रार्थना का यह भी एक प्रकार है जो पूर्वोक्त प्रकारों से कुछ अंशों में भिन्न है।

मगर आज प्रार्थना के संबंध में एक नवीन प्रश्न पर विचार करना है। वह प्रश्न यह है कि जब हम देव को वीतराग मानते हैं और वह न रुष्ट होता है, न तुष्ट होता है, न उपकार करता है, न अपकार करता है, न कुछ लेता-देता है, न कर्ता धर्ता-हर्ता है, तब उसकी प्रार्थना करने से क्या लाभ है? फिर भी जब उसकी प्रार्थना की जाती है तो उसका प्रयोजन क्या है?

वैदिक आदि जिन परम्पराओं में देव-ईश्वर-को प्रार्थना से राजी होने वाला माना गया है, उन परम्पराओं में ईश्वरप्रार्थना की उपयोगिता समझ में आ सकती है। उन परम्पराओं में विश्वास करने वाले स्तुति के द्वारा परमात्मा को प्रसन्न करके उससे मनोवांछित फल प्राप्त करने की आशा रखते हैं। मगर जैन परम्परा इस प्रकार की मान्यता को प्रश्रय नहीं देती। जैनों के देव वीतराग हैं। वह स्तुति से राजी नहीं होते, निन्दा से नाराज नहीं होते। तब उनकी स्तुति-प्रार्थना क्यों की जाती है? वीतराग की प्रार्थना करना शून्य में निशाना लगाना है, हवा में फायर करना है!

मगर जैनधर्म की विचारधारा बड़ी विलक्षण है। वह वस्तु स्वरूप को अनेक दृष्टिकोणों से-नयों से देखता है। किस दृष्टिकोण से परमात्मा अकर्त्ता है और किस अपेक्षा से उसमें कर्तृत्व है, यह समझने योग्य विषय है। यह तो ध्रुव सत्य है कि हमारे देव वीतराग हैं और इस कारण वह किसी को राजी होकर कुछ देते नहीं और नाराज होकर कुछ छीनते नहीं हैं। फिर भी उनकी जो स्तुति प्रार्थना की जाती है, वह निष्फल नहीं है।

कहा जा सकता है कि जैन साहित्य में स्तुति-प्रार्थना की परम्परा वैदिक परम्परा की देखादेखी दाखिल हो गई है, परन्तु

इस कथन में कोई तथ्य नहीं है। अगर पश्चाद्वर्ती साहित्य में ही वीतराग की प्रार्थना मिलती तो कदाचित् इस सम्भावना पर विचार किया जा सकता था, मगर हम देखते हैं कि पूर्ववर्ती साहित्य में, यहां तक कि आगमों में और अङ्ग साहित्य में भी प्रचुर परिमाण में यह परम्परा विद्यमान है। गणधर तो देखादेखी करने वाले नहीं थे, प्रवाह में बह कर अपनी मौलिकता का परित्याग नहीं कर सकते थे। मगर देखते हैं कि उनके द्वारा रचित साहित्य में भी प्रार्थना के प्रकरण विद्यमान हैं। सूत्रकृतांग सूत्र में वीर स्तुति का एक पृथक् अध्ययन उपलब्ध होता है। 'लोगस्स' का पाठ तो आप भी पढ़ते हैं। उसमें ये वाक्य आते हैं।

(क) सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु।

(ख) तित्थयरा मे पसीयंतु।

यहां कहा गया है कि सिद्ध भगवान् मुझे सिद्धि प्रदान करें और तीर्थंकर मुझ पर प्रसन्न हों।

चिन्तनीय है कि इस प्रकार के कथन का आशय क्या है? प्रसन्न उसे करने का प्रयत्न किया जाता है, जो नाराज हो गया हो या जिसके नाराज होने की संभावना हो। जिसमें कषाय की न्यूनाधिक मात्रा विद्यमान हो, वही राजी या नाराज होता है। पर जिन्होंने राग द्वेष का समूल उन्मूलन कर दिया हो, उनके प्रसन्न होने की बात कहें तो कुछ जंचती नहीं है।

जैनदर्शन कहता है कि वाणी की दो धाराएं हैं, विचार के दो तरीके हैं। एक विचार धारा व्यवहारनय कहलाती है और दूसरी विचार धारा को निश्चयनय कहते हैं।

निश्चयनय की विचारधारा के अनुसार यह ठीक है कि वीत-ाग देवाधिदेव किसी पर राग नहीं करते और किसी पर रोष ी नहीं करते। अतएव प्रसन्न होने के लिए उनसे प्रार्थना करने ी आवश्यकता नहीं। मगर दूसरी विचार धारा भी है, जिसे यवहारनय कहा जाता है। व्यवहारनय में वस्तु के बाह्य-उप-ारित रूप का विचार किया जाता है, लेकिन अन्तर की तथ्य ृत स्थिति नहीं देखी जाती। बाह्य रूप के देखने में अन्तरंग स्थिति का विचार गौण कर दिया जाता है और इस दृष्टि से ाचन का व्यवहार भी कुछ भिन्न प्रकार का होता है।

'तित्थयरा मे पसीयंतु' यह व्यवहारनय का दृष्टिकोण है। ्म देखते हैं कि यदि किसी पुरुष की आज्ञा का कोई पालन करता तो वह आज्ञापालन उसकी प्रसन्नता का कारण होता है और ाज्ञा के विरुद्ध प्रवृत्ति करना अप्रसन्नता का कारण होता है। इस ोकसिद्ध व्यवहार को ध्यान में लेकर भक्त कहता है आप मुझ ्र प्रसन्न हों, मैं ऐसी प्रार्थना जो कर रहा हूँ सो इसका अभि-ााय यह है कि आपकी आज्ञा के पालन में मेरी ठीक ढंग से ्वृत्ति हो। मैं सम्यक् प्रकार से आपकी आज्ञा का पालन करूँ, ्स यही आपका मुझ पर प्रसन्न होना है। इसके विपरीत यदि ैंने आपकी आज्ञा का पालन न किया तो यही आपकी अप्रसन्नता ै। इस प्रकार भक्त ने यहाँ कारण में कार्य का आरोप कर दिया ै, अर्थात् प्रसन्नता और अप्रसन्नता के कारण आज्ञापालन और ाज्ञाभंग को ही प्रसन्नता और अप्रसन्नता मान लिया है।

आज्ञाभंग करने के कारण कदाचित् स्वामी अप्रसन्न न हो तो भी सेवक के मन में यह विकल्प उठता अवश्य है कि कहीं स्वामी ाराज़ न हो जाएँ ! यह बात दूसरी है कि सेवक की गलती या आज्ञा की अवहेलना का स्वरूप समझ में न आने के कारण स्वामी

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

स्थित हुए। उन्हें कुछ कहने की आवश्यकता नहीं पड़ी, क्योंकि सर्वज्ञ भगवान् पहले ही सब कुछ जान चुके थे। जाते ही भगवान् ने पूछा-'मेघ, क्या रात्रि में ऐसी ऐसी बात हुई? बहुत परेशानी हुई?'

मेघ-'जी हां, भगवन्!'

भगवान्-'तुमने विचार किया कि प्रातः होते ही यह सब उपकरण भगवान् को सौंप कर चला जाऊंगा?'

मेघ-'हां भन्ते!'

संकोच के साथ नम्र शब्दों में मेघ मुनि ने स्वीकार किया। उन्होंने सोचा कि भगवान् ने मेरे मन की सारी बात जान ली है। अब अधिक संकोच करने का कोई कारण नहीं रहा है। अतएव वे बोले-'भगवन्! ऐसा ही है।'

तब भगवान् ने मेघ मुनि को संबोधित करते हुए कहा-'मेघ मुने! आज तुम मनुष्य हो, राजकुल में जन्मे हो, महाराज श्रेणिक के पुत्र हुए हो। मगर याद है इस पुण्य का संचय कहां और कब किया था? याद करो अपने पूर्वभव को, जब तुम चौपाये थे-हाथी थे। तुमने इससे पहले दो बार हाथी की पर्याय पाई है-एक बार तुम्हारा नाम मेरुप्रभ और दूसरी बार सुमेरुप्रभ था। तुम्हारे चार दांत थे और बड़ा परिवार था। तुम अपने परिवार के नायक थे। दावानल से रक्षा पाने के लिए तुमने एक योजन के इर्दगिर्द मैदान साफ किया था। उन्हीं दिनों एक बार उस वन में भयानक दावानल सुलग उठा। जंगल के जानवर अन्यत्र त्राण न पाकर तुम्हारे साफ किये हुए मैदान में-मंडल में आकर जमा हो गए और अपने प्राणों की रक्षा करने लगे। तुमने उन जान-

वरों को आश्रय दिया और स्वयं भी वहीं आसन जमाया। तुम्हारा वह मंडल जानवरों से खचाखच भर गया, कहीं सूई रखने को भी स्थान खाली न था।'

'तुम्हारे उस मंडप में शेर भी थे, चीते भी थे, सांभर भी थे, रोझ भी थे, रीछ, हिरण और खरगोश भी थे। हाथी तो थे ही। संकट के उस समय में जन्मवैरी प्राणी भी निर्वैर होकर स्थित थे। भाई-चारे का एक अनूठा वातावरण निर्मित हो गया था।'

'उस मंडल में एक खरगोश को कहीं जगह नहीं मिल रही थी। टक्करें खाता-खाता वह वहीं आ पहुंचा जहां तुम खड़े हुए थे। अकस्मात् तुम्हारे (हाथी के) शरीर में खुजली चली और शरीर को खुजलाने के लिए ज्यों ही तुमने अपना एक पैर ऊपर उठाया कि खाली जगह देख कर खरगोश उस जगह बैठ गया। शरीर खुजला चुकने पर हाथी ने पैर नीचे रखने को चेष्टा की तो कोमल स्पर्श मालूम पड़ा। देखने पर पता चला कि खाली जगह में खरगोश आ बैठा है। हाथी ने विचार किया-यह मेरे जैसा ही प्राणी है। अपनी जान बचाने के लिए आया है। मगर मैंने पैर टेक दिया तो बेचारे का कचूमर निकल जायगा। यह मेरी शरण में आया है और शरणागत की रक्षा करना मेरा धर्म है। मुझे खड़े रहने को स्थान मिला हुआ ही है।'

'हाथी के मन में इस प्रकार की करुणा उत्पन्न हुई और उसने अपना पैर अधर ही उठाए रक्खा। मगर थोड़ी देर का वह काम नहीं था। दावानल के शान्त हुए विना जानवर वहां से हट नहीं सकते थे और हाथी अपना पैर ज़मीन पर टेक नहीं सकता था।'

भगवान् महावीर मेघ मुनि को उनके पूर्वभव का यह वृत्तान्त

सुना रहे हैं। हमें भी इस पर थोड़ा विचार करना चाहिए। एक पशु में कितनी जबर्दस्त दया भावना थी। उसने वीतराग का उपदेश नहीं सुना था। आप सुनते हैं तो आपमें कितनी दया भावना आनी चाहिए! अगर किसी स्वधर्मी भाई पर संकट आया है, कोई पड़ोसी कष्ट में है और किसी प्राणी को आप कष्ट पाते देख रहे हैं तो आपके हृदय में भी ऐसी ही करुणा का सागर उमड़ता है? करुणा की लहर में वह कर आप उसकी सहायता करते हैं? आज अपने प्राणों को जोखिम में डालना भारी जान पड़ता है, किन्तु अन्तःकरण में करुणा भाव उत्पन्न होने पर कोई बड़ी कठिनाई नहीं मालूम होती।

८

हां तो भगवान ने मेघ मुनि से कहा—'करुणावृत्तिभाव से प्रेरित होकर हाथी ने अपना पैर दो रात व दिन तक ऊपर ही उठाये रक्खा। तत्पश्चात् दावानल शान्त हुआ। जानवर इधर उधर हुए। तब खरगोश भी उस जगह से हटा। हाथी ने पैर नीचे टेकने का यत्न किया मगर उसे सफलता न मिली। पैर अकड़ गया था और उसकी नसें सख्त हो गई थीं। ज्यों ही उसने जोर लगाया, धड़ाम से धरती पर जा गिरा।'

भगवान् फर्माते हैं-'अय मेघ! वह हाथी का जीव ही आज तू मेघ मुनि है। तुझे उस समय भयंकर वेदना हुई, किन्तु तूने उसकी परवाह नहीं की। तुझे इस बात का सन्तोष था कि मेरे कष्ट सहन से बेचारे खरगोश के प्राणों की रक्षा हो सकी। मेरा बल सफल हुआ।'

'आखिर इस प्रकार की प्रशस्त भावना के साथ तूने प्राणत्याग किया। इस अनुकम्पा की अवस्था में तू ने—

संसारे परित्तीकए, मणुस्साउए निबद्धे

—ज्ञाता, १ अध्ययन।

संसार को सीमित कर लिया, मनुष्यायु का
और राजा श्रेणिक के पुत्र के रूप में जन्म लिया।'

'हे मेघ ! तूने हाथी के भव में जितना तीव्र कष्ट
था, क्या रात्रि में उतना कष्ट हुआ ? क्या साधुओं के
से, उनकी ठोकर लगने से या शरीर पर रज लगने से
हुआ है ? अथवा क्या हाथी के भव के कष्ट को तू भू
कहां तो तूने खरगोश के लिए प्राण अर्पित कर दिये
आज तू साधुओं की सेवा के लिये अपने को अर्पि
सकता !'

भगवान् के प्रभावजनक व उद्बोधक वाक्य सुन
अन्तर्नेत्र खुल गये। वह उपकरण संभाल लेने की
भूल गये और बोले–'भगवन् ! मैं अपने जीवन को अं
आज से सन्तों की सेवा के लिए समर्पित करता हूँ। वे
छाती पर पैर रख कर चले जाएँ, मैं चूं नहीं कर
श्रेणिक का पुत्र हुआ और आपका शिष्य हुआ तो इ
और कुछ भी नहीं चाहूँगा कि मेरा जीवन सन्तों की
समर्पित हो।'

इस प्रकार मेघ की आत्मा स्थिर हो गई।
चित्त स्थिर और शान्त हो गया, निर्मल हो गया।

तो भगवान् ने कुछ किया या नहीं ? वीतराग
भगवान् एकान्त अकर्त्ता नहीं है। एकान्त अकर्त्ता होते

कर अर्थात् तीर्थ के कर्त्ता कैसे कहलाते ? शरीरधारी अरिहन्त देव कुछ करते भी हैं, मगर करते हुए भी उनकी वीतरागता अखण्डित रहती है।

तो आज के प्रवचन में से कम से कम इतना स्मरण रखिए कि जैनधर्म के अनुसार देव के दो रूप हैं—सिद्ध और अरिहन्त। अरिहन्त देव भव्य आत्माओं को तारते हैं, ज्ञान देते हैं, मिथ्यात्व की ओर से हटा कर सम्यक्त्व की ओर लाते हैं, अव्रती को व्रती बनाते हैं, और चतुर्विध तीर्थ की स्थापना करके मोक्षमार्ग की परम्परा को चालू रखने का प्रयत्न करते हैं। इस अपेक्षा से उनमें कर्तृत्व भी है। लेकिन सिद्ध देव अशरीर हैं, न सुनते हैं, न बोलते हैं, न किसी को मिथ्यात्वी से सम्यक्त्वी बनाते हैं, न अव्रती को व्रती बनाते हैं, न धर्म की देशना करते हैं। उनके मन, वचन और काय का योग नहीं है।

इस प्रकार अरिहन्त भगवान् की प्रार्थना का जो रूप है, उसकी समस्या हल हो जाती है, क्योंकि इच्छारहित पूर्ण निरीह और निष्काम होने पर भी उनमें कर्तृत्व होता है। उनमें निमित्तता है, कारणपन है। तात्पर्य यह है कि अरिहन्त भगवान् इच्छारहित होने के कारण वीतराग होते हुए भी मनोयोग, वचनयोग और काययोग की विद्यमानता से कर्त्ता भी हैं।

ऐसे देवाधिदेव तीर्थंकर भगवन्तों के समक्ष मेघकुमार की भाँति अपने अन्तःकरण को खोल कर अपने अज्ञान को दूर करना, अविरति भाव को दूर करना और उनके चरणों में जीवन को समर्पित कर देना ही मानवजीवन की सर्वोत्कृष्ट सफलता है और यही प्रार्थना का लक्ष्य होना चाहिए।

इस प्रकार सही और शुद्ध लक्ष्य रखकर देवाधिदेव वीत-

राग के चरणों में आत्मनिवेदन करना चाहिए। यही प्रार्थना का वास्तविक रूप है कि प्रार्थी भक्ति के रस में इस प्रकार तल्लीन हो जाए कि अपने आराध्य के चरणों में अपना सर्वस्व समर्पण कर दे। इसी उद्देश्य से प्रार्थना की जाती है।

जब भगवान् वीतराग हैं और प्रार्थना से प्रसन्न नहीं होते तो प्रार्थना किये बिना भी वे हमारे आत्मोत्थान में निमित्त बन सकते हैं। ऐसी स्थिति में प्रार्थना करने की क्या उपयोगिता है? इस प्रश्न पर विचार करना अब भी शेष है। इस पर यथाप्रसंग विचार करने की भावना है। आज जो कुछ कहा गया है, उस पर आप विचार करेंगे और प्रार्थना के द्वारा देवाधिदेव वीतराग के निकट से निकटतर पहुंचने का प्रयत्न करेंगे तो इस भव में और परभव में आपका कल्याण होगा। जो निर्मल भाव से प्रार्थना करेगा, वह सुखी होगा।

लाल भवन,
जयपुर
८. ३. ६०

एकनिष्ठा प्रभुप्रीति



कल विचार किया गया था कि जब वीतराग देव कर्त्ता-हर्त्ता नहीं हैं और रुष्ट-तुष्ट भी नहीं होते, तब उनकी प्रार्थना करने से क्या लाभ है ? इस प्रश्न पर किंचित् विचार करते हुए अरिहन्त भगवान् के कर्तृत्व-अकर्तृत्व पर भी विचार किया गया था और बतलाया गया था कि अरिहन्त भगवान् भव्य जीवों के आत्मोत्थान में किस प्रकार सहायक बनते हैं ? मेघकुमार के उदाहरण से अरिहन्त के कर्तृत्व का स्पष्टीकरण किया गया था।

इसी दृष्टिकोण से आचार्य मानतुंग ने कहा है-भगवन् ! आपको क्या नाम दिया जाय ? आपके अनेक स्वरूप हैं। आप विधाता भी हैं, शंकर भी है, बुद्ध भी हैं, पुरुषोत्तम भी हैं—

और विधाता का समावेश है, वही तू 'पुरुषोत्तम' कहला सकता है।

इस प्रकार अरिहन्त भगवान् को विधाता के रूप में समझाया गया। गहन चिन्तन करने वाले हमारे आचार्य ने कहा—तीर्थंकर शरीरधारी होने के कारण बोध देने वाले, ज्ञान देने वाले, मोक्ष-मार्ग का विधान करने वाले हैं। हमारे कल्याण में उनके तीनों योगों का उपयोग होता है। अतएव उनके सामने प्रार्थना इस रूप में की गई कि उनसे कुछ मिलता है। मगर जैसा कि मैं कल कह चुका हूँ, यह व्यवहारनय की विचारधारा है।

कर्त्तापन के दो रूप बतलाए जा चुके हैं। एक वह जिसमें कर्त्ता का सीधा योग प्रयुक्त होता है और दूसरा वह जिसमें सीधा योग प्रयुक्त नहीं होता, बल्कि जिससे परोक्ष रूप में कुछ लाभ मिलता है। साधारणतया प्रथम प्रकार के कर्तृत्व को लोग अनुभव करते हैं और स्वीकार करते हैं, मगर दूसरे प्रकार के परोक्ष कर्तृत्व का अनुभव नहीं करते या उसे कर्त्ता नहीं कहते। फिर भी उससे लाभ मिलने के कारण उसका सेवन जरूर करते हैं। इस तथ्य को समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए।

नीरोगता की प्राप्ति के लिए रोगी चिकित्सक की सेवा करता है और उसके दर पर पहुँचता है। साथ ही वायुसेवन के लिए भी जाता है और प्रकृति का भी सेवन करता है। वायु एवं प्रकृति के सेवन से रोगी को अवश्य कुछ लाभ होता है। स्वास्थ्य में कुछ तरक्की होती है। घूमने से प्रसन्नता का अनुभव होता है और शरीर में कुछ स्फूर्ति-सी मालूम होती है। परन्तु आप कभी यह नहीं कहते कि हवा ने हमें शक्ति प्रदान की है और निरोग कर दिया है। ऐसा न बोलने पर भी हवा का सेवन करते अवश्य हैं।

अहसान तो डाक्टर साहब का ही माना जाता है कि अमुक डाक्टर साहब ने मुझे पुनर्जीवन दिया ! फिर भी क्या वायु जीवनदान देने वाली नहीं है ? क्या सूर्य ने कुछ भी नहीं दिया है ?

इस समय सूर्य की जो सौम्य रश्मियां गिर रही हैं और मध्यान्ह में जो प्रखर किरणें गिरने लगती हैं, उनमें क्या जीवन देने का स्वभाव नहीं है ? अवश्य उनमें यह स्वभाव विद्यमान है। 'हम जीवनदान दें, किसी को पोषण दें' इस प्रकार की भावना न होने पर भी किरणें जीवन देती हैं, पोषण देती हैं। उन किरणों का जो विशेष विधि से संग्रह करते हैं, वे रोग में लाभ उठा लेते हैं और जो संग्रह नहीं करते, कुछ लाभ नहीं उठाते। वे इतना भर समझते हैं कि सूर्य उगा और अस्त हो गया। लगभग ऐसा ही रूप है सिद्ध परमात्मा का।

सिद्ध परमात्मा की स्तुति करना, उनका ध्यान करना और चिन्तन करना अन्तःकरण में ज्ञान-किरणों का पहुंचाना है। सूर्य की मनोभावना यह नहीं होती कि मैं किसी को नीरोग करूं और किसी को रोगी बनाऊं; तथापि उसका विधिवत् सेवन करने वाले नीरोगता प्राप्त कर लेते हैं, और सेवन न करने वाले उस लाभ से वंचित रहते हैं। नेचरोपैथी (प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति) कुछ ऐसी ही पद्धति है। दूसरी पद्धतियों में भी कांच के सहारे सूर्य किरणों के संग्रह द्वारा लाभ उठाया जाता है। चिकित्सक उनसे लाभ उठाते हैं और कई रोगियों को स्वस्थ कर देते हैं, वही किरणें आम जनता के घरों में, आंगनों में और अन्य स्थानों में भी पड़ती हैं, मगर वे उनसे कोई लाभ नहीं उठाते। तो क्या यह कहा जा सकता है कि सूर्य ने एक को लाभ पहुंचाया और दूसरे को नहीं पहुंचाया ? क्या सूर्य को आप कर्त्ता कहते हैं ? नहीं। सूर्य की किरणों से लाभ पाकर भी आप चिकित्सक की

प्रशंसा करेंगे, उनके प्रति कृतज्ञ होंगे, सूर्य की किरणों का अह्सान नहीं मानेंगे।

तो यही बात सिद्ध परमात्मा के विषय में समझनी चाहिए। सिद्ध परमात्मा करते कुछ नहीं हैं, तथापि उनके ध्यान से, चिन्तन से आत्मा को पोषण मिलता है, आत्मा 'स्वस्थ' बनती है।

जैसे अंजन नहीं चाहता कि मैं किसी की नेत्र ज्योति बढ़ाऊँ, तथापि उसके सेवन से नेत्र की ज्योति बढ़ती ही है, उसी प्रकार निष्काम-निस्पृह एवं वीतराग सिद्ध परमात्मा भले ही किसी को लाभ पहुँचाना न चाहें, मगर उनके सेवन से-उनके ध्यान और स्तवन से अवश्य ही लाभ पहुँचता है। सिद्ध भगवान् की अलौकिक ज्ञान किरणों को, चिन्तन के काच के सहारे, यदि हम अपने अन्तःकरण में केन्द्रित करेंगे तो अज्ञान दूर होगा, मन की अशान्ति दूर हो जाएगी और चित्त की आकुलता विनष्ट हो जाएगी।

इस प्रकार सिद्ध भगवान् का स्तवन करने वाला भक्त यही कहेगा कि मुझे सिद्ध परमात्मा के स्तवन-कीर्तन से अपूर्व लाभ प्राप्त हुआ है; मगर जिसने ऐसा नहीं किया वह यही सोचेगा कि वाह, यह भी खूब कहा ! सिद्धों से कुछ लाभ मिलता होता तो मुझे भी क्यों न मिल जाता ? मुझे कुछ मिला नहीं, इन्हें कैसे मिल गया ! एक कवि ने अपनी भाषा में कहा है—

शरणे तिरणे आयो जी।
तारक हो प्रभु नांव,
लोक यों तर्क उठायो जी।
ज्यों सेठ तूमड़ी कमर बांध के सागर तिरियो जी
त्यों जिन नाम ध्यान धर चेतन भवोदधि तिरियोजी

जो प्रभु तारक नहीं हुआ तो तारक नाम लजायो जी,
शरणे तिरणे आयो जी ।

भक्त ने शंका को निवारण करने के लिए प्रार्थना में ही यह शंका उपस्थित कर दी है कि-प्रभो ! मैं प्रार्थना करता हूं। स्तुति करता हूं, लेकिन मेरे सामने एक बड़ी समस्या पैदा हो गई है। वह यह कि तुम तारक हो भी या नहीं ? कुछ लोग कहते है कि भगवान् तारने वाले हैं और कुछ कहते हैं—नहीं, भगवान् कुछ नहीं हैं। तो मैं क्या समझूं ? क्या मानूं ? दोनों ओर बहुत-से तर्क हैं। एक कहता है- अगर भगवान् तारने वाले हैं तो संसार का कोई भी प्राणी डूबा हुआ नहीं रहना चाहिए। वह अपनी भुजाओं से सभी को उबार क्यों नहीं लेता ? इसी बात को कवि की भाषा में कहें तो यों है—

जो प्रभु तारक होवे
तो क्यों जगत डुबायो जी ।

और यदि-

जो प्रभु तारक नहीं हुवे तो
जगतपति नाम लजायो जी ।

कहने का ढंग कितना सुन्दर है। अगर प्रभो ! तुम तारक हो तो जगत् डूबा क्यों जा रहा है ? और यदि तारक नहीं हो तो त्रिलोकीनाथ, देवाधिदेव, दीनानाथ आदि-आदि नाम क्यों धारण किये हैं ? इन सब नामों को क्या गलत समझा जाय ?

यह भक्त का प्रश्न है। इसका समाधान करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—इस प्रश्न पर दो दृष्टियों से विचार करना है-परमार्थदृष्टि से और व्यवहार दृष्टि से। परमार्थदृष्टि या निश्चयदृष्टि से अगर कोई लड़का कहता है कि 'अध्यापक क्या पढ़ता है? वह कुछ भी नहीं पढ़ाता। यह तो मैं स्वयं ही पढ़ता हूँ। तो वह गलत नहीं कहता, वास्तव में पढ़ता तो लड़का ही है। अध्यापक भले ही जान लड़ा दे, अच्छे से अच्छे ढंग से समझावे, किन्तु लड़के का मन यदि दूसरी ही ओर हो और वह अध्यापक की बात पर कान ही न दे तो क्या होगा? क्या वह परीक्षा में सफल हो सकेगा? दूसरी ओर आजकल के सरकारी कॉलिजों को देखिए और वहां की शिक्षणविधि को देखिए। वहां घंटा दो घंटा बोलने की परिपाटी है। प्रोफेसर लेक्चर दे देता है। ३५–४० मिनिट का पीरियड होता है। इस पीरियड में प्रोफेसर बोलता है। विद्यार्थी समझ गया तो उसका सौभाग्य, न समझा तो उसका दुर्भाग्य! प्रोफेसर साहब को इसकी चिन्ता नहीं। मगर लगन वाला विद्यार्थी पुस्तकों के सहारे, कुंजियों का आश्रय लेकर अपने सहपाठियों की सहायता से अथवा किसी दूसरे अध्यापक के सहयोग से अपनी तैयारी कर लेता है और परीक्षा में सफलता प्राप्त करता है। अगर वह कक्षा के लेक्चर के भरोसे ही रह जाता है तो अनुत्तीर्ण हो जाता है।

इस दृष्टि से अगर सोचते हैं कि बालक स्वयं पढ़ते हैं और अपने परिश्रम से ही ज्ञान प्राप्त करते हैं, अध्यापक उनमें ज्ञान डाल नहीं सकता, तो कुछ गलत नहीं है। दूसरी ओर यह भी सत्य है कि यदि अध्यापक न पढ़ावे, गुर न बतावे और कठिन स्थलों को न समझावे तो असहाय बच्चे क्या कर लेंगे!

इस प्रकार अध्यापक में कर्त्तापन भी सिद्ध है और अकर्त्तापन

भी सिद्ध होता है। जैन सिद्धान्त के अनुसार ये दोनों दृष्टियां अपेक्षाभेद से सत्य हैं। और जैनसिद्धान्त ही नहीं, वैदिक परम्परा और हमारा अनुभव भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक मनुष्य स्वयं ही अपने हित-अहित और सुख-दुःख का कर्त्ता है। फिर भी निमित्त की अपेक्षा तो रहती ही है। इसी कारण गीता में जहां यह कहा गया है–

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानम् ,

वहीं यह भी कहा गया है–

निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् !

पहले कहा गया है कि अपना उद्धार आप ही और अपने ही से करना चाहिए, क्योंकि कोई किसी दूसरे का उद्धार या सुधार नहीं कर सकता। दूसरे उद्धरण में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं–तेरे द्वारा जो कुछ होना है, उसमें तू निमित्त मात्र है।

महाभारत प्रारंभ होने से पहले पाण्डवों ने कृष्ण की सहायता चाही और दुर्योधन ने भी। कृष्ण ने कहा–मैं दोनों को निराश नहीं कर सकता। एक ओर मेरी समग्र सेना होगी और दूसरी ओर मैं रहूंगा, परन्तु मैं युद्ध में शस्त्र नहीं उठाऊंगा। अर्जुन ने सेना के बदले कृष्णजी को ही पसंद किया। तब वह बोले–'मुझे चाहते हो, मगर मैं करूंगा क्या ?' पाण्डव ने कहा–'आप कुछ करें अथवा न करें, हमारा पथप्रदर्शन करते रहना। इसी में हमारी विजय है।'

महाभारत जैसे घोर युद्ध में कृष्ण ने क्या किया ? हाथ भी हिलाया ? उन्होंने शस्त्र हाथ में नहीं लिया। फिर भी उनके

मार्गदर्शन के कारण पाण्डवों को विजय मिली। निमित्त मात्र बनने का, वैदिक परम्परा का यह एक स्पष्ट उदाहरण है।

जैन सिद्धान्त कहता है-जो कुछ करना है, आत्मा को ही करना है, क्योंकि-

अप्पा कत्ता विकत्ताय।

आत्मा ही कर्त्ता-हर्त्ता है, किन्तु 'परमात्मा' अरिहन्त से अ र सिद्ध से, मार्गप्रदर्शन लेना है। इनसे किरणें लेनी हैं और किरणें पाने में इनकी स्तुति एवं प्रार्थना निमित्तभूत हैं। अतएव व्यवहार भाषा में कहा गया है-

चंदेसु निम्मलयरा,
आइच्चेसु अहियं पयासयरा।
सागरवरगंभीरा,
सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु॥

अर्थात् चन्द्रों से भी अधिक निर्मल, सूर्यों से भी अधिक प्रकाश करने वाले और सागर से भी अधिक गंभीर सिद्ध भगवन्त मुझे सिद्धि का पथ प्रदर्शित करो।

श्रावकसूत्र में भगवान् के लिए 'पसीयन्तु' कहा गया है, 'दिन्तु' भी कहा है और 'दिसन्तु' भी कहा है। 'समाहिवरमुत्तमं दिन्तु' यहां भगवान् से प्रार्थना की गई है- प्रभो! आप मुझे श्रेष्ठ समाधि प्रदान करें।

यह सब व्यवहार भाषा है और ये उद्गार व्यवहारनय की विचार धारा को प्रकट करते हैं। अरिहन्त भगवान् सशरीर होने से हमारे कल्याण में निमित्त बनते हैं। सिद्ध भगवान् मन, वचन और काय से अतीत होने के कारण यद्यपि अरिहन्त के समान निमित्त नहीं बनते, तथापि वे आध्यात्मिक विकास के चरम और परम आदर्श हैं। उनका परिपूर्ण विशुद्ध स्वरूप आदर्श बन कर ही साधक को प्रेरणा प्रदान करता है। अतएव उन्हें भी हम व्यवहार में प्रार्थ्य बनाते हैं।

निश्चयनय की विचारधारा इससे निराली है। उसमें प्रार्थ्य और प्रार्थी जैसे भेद के लिए अवकाश नहीं है। वहां तो यही कहा जाता है—

तू सो प्रभु-प्रभु सो तू है, द्वैत कल्पना मेटो।
सच्चेतन आनन्द विनयचंद, परमातम पद भेटो रे।
सुज्ञानी।

यः परमात्मा स एवाहं,
योऽहम् सः परमस्ततः।
अहमेव मयाऽराध्यः,
नान्य : कश्चिदिति स्थितिः।

जो परमात्मा है, वही मैं हूं और जो मैं हूं वही परमात्मा है। अतएव मैं ही मेरे द्वारा आराध्य हूं। मेरे सिवाय अन्य कोई आराध्य-उपास्य-प्रार्थनीय नहीं हो सकता।

इस विचारधारा के अनुसार एक प्रकार की प्रार्थना ऐसी भी की जाती है जिसमें आत्मा की ही अभ्यर्थना होती है। अभी आप प्रार्थना के अन्त में बोल गये हैं—

प्राप्त करने के लिए, मन को शान्त और स्वस्थ रखने के लिए, प्रार्थना के लिए, स्वाध्याय और सत्संग के लिए एकान्तमय स्थान ही उपयुक्त हो सकता है।

इसी प्रकार काल भी निमित्त बनता है और इसी कारण विभिन्न अवसरों पर नाना प्रकार के पर्वों की कल्पना की गई है। समय-समय पर लोग महापुरुषों को याद करते हैं और इस रूप में वह पर्व आदि मानसिक प्रेरणा के कारण बनते हैं।

होली और दिवाली आई कि लोगों में एक प्रकार की चहल-पहल मच गई। बच्चों में ही नहीं, बूढ़ों में भी जोश आ गया। यह बात आप देखते ही हैं। यद्यपि मनुष्य में उल्लास की वृत्ति स्वाभाविक है, फिर भी पर्व त्यौहार का काल उसके विकास में निमित्त बन जाता है।

यद्यपि काल में विचार शक्ति नहीं है। तिथि आप को पकड़ कर धर्माराधना में प्रवृत्त नहीं कराती। वह कोई उपदेश भी नहीं देती। फिर भी तिथियों के निर्माण से लाभ ही हुआ। अगर आचार्यों ने पंचतिथि का निर्माण न किया होता और उनका महत्त्व आपके मस्तिष्क में नहीं होता तो सप्तमी की अपेक्षा अष्टमी को, दसवीं की अपेक्षा एकादशी को और तेरस की अपेक्षा चौदस को जो विशेष धर्माराधन किया जाता है, वह शायद ही होता। इन तिथियों के दिन मस्तिष्क में जो थोड़ी-बहुत प्रेरणा होती है, वह भी न होती। परन्तु जब पर्व का स्वरूप और महत्त्व सामने हो तो किसी भी तिथि के आने पर ख्याल आ ही जाता है। चतुर्दशी आएगी तो आप सोचेंगे-आज उपवास या पौषध करना है, ब्रह्मचर्य का पालन करना है, अन्य दिनों की अपेक्षा अधिक धर्माराधना करनी है।

भाव भी निमित्त बनता है। उसकी निमित्तता इतनी स्पष्ट है कि अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। द्रव्य, क्षेत्र और काल की अनुकूलता होने पर भी यदि भाव की अनुकूलता न हुई तो वे सब बेकार हो जाते हैं। भाव सब में प्रधान है। प्रथम तो भाव के अभाव में किसी धर्मक्रिया में प्रवृत्ति ही नहीं होती और यदि हुई भी तो वह यथेष्ट फलप्रद नहीं होती। आचार्य कहते हैं—

यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः।

भावविहीन क्रिया फल प्रदान नहीं करती है। अतएव प्रत्येक क्रिया में भाव ओतप्रोत रहना चाहिए। भाव क्रिया का प्राण है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की तरह महापुरुषों के जीवन भी प्रेरणा देते हैं। आज फाल्गुन मास के शुक्ल पक्ष की एकादशी है और एक महात्मा की स्मृति तिथि भी है। थोड़े समय में इन महात्मा के विषय में भी कुछ कह दें।

जिन महात्मा का उल्लेख किया जा रहा है, उनका पदार्पण इस नगर में भी हो चुका है। आसपास के क्षेत्रों में उन्होंने भ्रमण किया था। आपके ऊपर उनके उपकार का भार भी है।

वे महात्मा थे भोजराज स्वामी। आज उन्हीं का स्वर्गवास दिवस है। भगवान् की प्रार्थना से और सद्गुरुओं की सेवा से जो जीवन- रस बन जाता है, उसका जीता-जागता उदाहरण होता है महात्माओं का जीवन।

स्वामीजी का जन्म एक काश्तकार कुल में हुआ था। वे न किसी महाजन के घर में पैदा हुए, न किसी धुरन्धर विद्वान्

शास्त्री के घर में। गांव में एक किसान के घर में जन्म लेकर वे चमके। नगीना पड़त भूमि में ही होता है। आबादी वाली जमीन, चौड़े रास्ते में या जौहरी बाजार जैसी जगहों में पन्ने की खान नहीं होती। खेत जोत कर और बीज बोकर पन्ने की फसल पैदा नहीं की जा सकती। नगीना तो जंगल में, पड़त भूमि में, सूनी जगह में होता है। सूनी जगह में पैदा होने वाला नगीना अपनी चमक-दमक और जाति की बहुमूल्यता के कारण नगरों में आ जाता है, घिसाई और कटाई करने वालों के पास पहुँचता है और ज्यों-ज्यों उसकी चमक-दमक बढ़ती जाती है, वह बड़ी से बड़ी फर्मों में पहुंचता है, बहुमूल्य बन जाता है। महापुरुषों के जीवन की भी यही हालत होती है।

महात्मा भोजराज का बाल्यकाल खींवसर के पास एक छोटे से ग्राम में व्यतीत हुआ। संयोगवश उस बालक को एक श्रावक के यहां रहने का अवसर मिल गया। भोपालगढ़ में साधुओं का सम्पर्क मिला। जहां धार्मिक भावना होती है वहां सन्त सतियों का संयोग मिलता है। उन्होंने भी संयोग पाया। श्रीचन्दनमलजी महाराज के सम्पर्क में आकर वे उनकी ओर उसी प्रकार आकर्षित हुए जैसे लोहा चुम्बक की ओर आकर्षित होता है।

उस समय वे एकदम अपठित अवस्था में थे। वह जिन चोरड़िया जी के घर में रहते थे, उन्होंने उनकी इच्छा देखकर कहा-खुशी से महात्माजी की सेवामें रहो। रहोगे, तो कुछ पाओगे और बन जाओगे। आज सेवक कहलाते हो, कल स्वामी-गुरु बन जाओगे।

आखिर वि. सं. १६५८ में वह दीक्षित हुए। साधना प्रारंभ हुई। कारगुजार का एक अनुभव होता है। वह जोड़ना जानता

है और बीज को भूमि में डाल कर कई गुना प्राप्त करता है। तिस पर उन्हें सुयोग्य गुरु का सान्निध्य प्राप्त हुआ। आत्मोत्थान के लिए ज्ञान और चारित्र की अनिवार्य आवश्यकता होती है। उन्होंने इनके लाभ के लिए कठिन परिश्रम प्रारम्भ किया।

महात्माजी ने अपने जीवन में एक महत्वपूर्ण सूत्र पकड़ा। उन्होंने देखा कि ज्ञान में अधिक प्रगति नहीं कर रहा हूं तो सेवा के क्षेत्र में मुझे विशेष रूप से अग्रसर होना चाहिए। यह सोच कर वे एक आदर्श सेवाभावी बने।

महात्माजी की दूसरी विशेषता थी संयमशीलता। उन्होंने इन्द्रियों पर असाधारण रूप में काबू प्राप्त किया। जिह्वा पर उनका बड़ा नियंत्रण था। गिनती की कुछ चीजों के सिवाय, लगभग सभी मिष्टान्नों के त्यागी थे। जो अच्छी से अच्छी वस्तु भिक्षा में मिलती, वे अपने साथी सन्तों को दे देते। पर उन्होंने स्वयं उस की इच्छा नहीं की। समस्त हरे शाकों का भी त्यागकर दिया। सूखा शाक मिला तो ठीक, न मिला तो न सही।

वे समय–समय पर लम्बी तपस्याएं भी किया करते थे। छोटे–से लेकर बड़े सन्तों की सेवा में उनका जीवन समर्पित था। अतएव सन्तों के मन में उनके प्रति मातृभाव सा था।

जब स्वामी चन्द्रदत्त जी महाराज का स्वर्गवास हो गया तब वे पूज्य शोभाचन्द्रजी महाराज की सेवा में रहने लगे। एक चौमासा आपने बाबाजी के साथ नागौर नगर में किया और शेष समय स्थिर वास में बिताया।

गुरुदेव के स्वर्ग वास के बाद हम लोगों की देखरेख में रहे।

अजमेर-चातुर्मास के पश्चात् दक्षिण की ओर प्रयाण किया तो सं० १९९४ का चातुर्मास उदयपुर में और सं० १९९५ का अहमद नगर में किया। तत्पश्चात् सेठ चन्दनमल जी सतारा वाले की विनति पर उदयपुर से दक्षिण की ओर जाते हुए आप जावरा में कुछ अस्वस्थ हो गए। कफ की वृद्धि होती गई और अन्ततः रतलाम में आज के दिन उन्होंने देह त्याग कर दिया। उनकी मानसिक शक्ति और समाधिभावना अन्तिम समय तक कायम रही। वे अपनी स्थिति से तनिक भी विचलित नहीं हुए।

आज उनका नश्वर शरीर अपने सामने नहीं है, मगर उनके उज्ज्वल जीवन का स्पृहणीय आधार सामने है। उनके जीवन से और साथ ही प्रभु प्रार्थना से हमें यह प्रेरणा लेनी है कि-जिस प्रकार वे महात्मा अपने जीवन को तप, त्याग और वैयावृत्य के द्वारा उन्नत बना सके, उसी प्रकार हमें भी ऐसा बनने का सामर्थ्य प्राप्त हो। हम उनके महान् जीवन से प्रेरणा और बल प्राप्त करें।

यह मन बहुत बार इधर उधर विषय भोगों की तरफ भटकता रहता है, मगर प्रार्थना मन को स्थिर करके आत्मा को ताकत देती है। सन्त मुनियों ने प्रार्थना योग की आराधना करके अपने आपको लोकोत्तर परम पद का अधिकारी बना लिया। प्रार्थना उनके परम कल्याण का कारण बनी।

ज्ञान और कल्याण के दोनों कदम आगे बढ़ने पर ही आत्मा परमात्मा की ओर अग्रसर हो सकेगी। प्रार्थना के द्वारा सहज ही हम आगे कदम बढ़ाने की वह योग्यता प्राप्त कर सकते हैं। जो भव्य जीव प्रार्थना के वास्तविक स्वरूप को भली भांति समझ कर

अपने जीवन को प्रार्थनामय बनायेंगे और परमात्मा के प्रति एकनिष्ठा प्रीति जगायेंगे, वे इस लोक और परलोक में आनन्द के भाजन बनेंगे।

लाल भवन
जयपुर
६-३-६०

प्रार्थना प्रभाव

तू धन, तू धन, तू धन, तू धन शान्ति जिनेश्वर स्वामी ।
मृगीमार निवार कियो प्रभु, सर्व मणि मुक्त गामी ॥

यह भगवान् शान्तिनाथ की प्रार्थना है। प्रार्थनाओं के अनेकों प्रकार हैं। प्रस्तुत प्रार्थना का बहाव भावना की ओर होने के कारण इसे भावनाप्रधान प्रार्थना की कोटि में परिगणित किया जा सकता है। भावनाकी प्रधानता के साथ इसमें प्रभु जीवन की महत्ता का भी रूप प्रकट किया गया है। इस प्रार्थना में साधक प्रार्थी अपने से कुछ कहता है और साथ ही प्रार्थ्य को अपना शिरोमणि समझ कर और प्रार्थना के रूप को बदल कर उससे कुछ याचना भी करता है।

बतलाया जा चुका है कि वीतराग परमात्मा कुछ देने या करने वाले नहीं हैं, फिर भी हम उनसे प्रार्थना करते हैं, याचना भी करते हैं। क्यों ऐसा करते हैं, यह समझाने के लिए सूर्य और वायु के उदाहरण बतलाए जा चुके हैं। सभी जानते हैं कि सूर्य और वायु का सेवन लाभदायक है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि सूर्य किसी पर प्रसन्न होकर किरणें बिखेरता है या किसी पर अप्रसन्न होकर नहीं बिखेरता है।

यही स्थिति वायु की है। यह भी न किसी पर रुष्ट होती है, न तुष्ट होती है। तुष्ट होकर किसी को लाभ पहुँचाने की और रुष्ट होकर लाभ न पहुंचाने की वृत्ति उसमें नहीं है। क्या सूर्य और क्या वायु, नैसर्गिक रूप से अपने गुणों को प्रकट करते रहते हैं। अतएव सूर्य की किरणों से और वायु के सेवन से संसार के प्राणी लाभ उठाते रहते हैं।

इतना होने पर भी वायु यह कामना लेकर नहीं बहती कि कोई मुझसे लाभ उठावे और मेरी प्रशंसा करे। सूर्य के विमान में भी ऐसी वृत्ति या कामना नहीं है। वे अपने अपने स्वभावानुसार प्रवृत्त हो रहे हैं। लाभ उठाने वाले उठा लेते हैं।

यही बात वीतराग परमात्मा के स्मरण और प्रार्थना के संबन्ध में कही जा सकती है। वीतराग होने के कारण वे इस कामना को लेकर नहीं चलते कि अमुक प्रार्थी मेरी प्रार्थना कर रहा है, अतएव उस पर दया दृष्टि की जाय और उसे कोई बख्शीस दी जाए और जो प्रार्थना नहीं करता उसे कोई दण्ड दिया जाय। ऐसा होने पर भी यह असंदिग्ध है कि जो भक्त शान्त चित्त से वीतराग की प्रार्थना करते हैं, स्मरण करते हैं, उन्हें जीवन में अपूर्व लाभ की प्राप्ति होती है। वीतराग के विशुद्ध आत्मस्वरूप

का चिन्तन भक्त के अन्तःकरण में समाधि भाव उत्पन्न करता है और उस समाधि भाव से आत्मा को अलौकिक शान्ति की प्राप्ति होती है। भक्त के हृदय में वहता हुआ विशुद्ध भक्ति का निर्झर उसके कलुप को धो देता है और आत्मा निष्कलुप वन जाती है। निष्कलुपता के इस लाभ में भक्त का भक्तिभाव ही अन्तरंग कारण है, वीतराग भगवान् तो निमित्त मात्र हैं।

वीतराग भगवान् के भजन से भक्त को उसी प्रकार लाभ मिलता है, जिस प्रकार सूर्य की किरणों के सेवन से और वायु के सेवन से रोगी को लाभ होता है। एक आदमी गन्दी गलियों की हवा का सेवन करता है, रात दिन उसी में पड़ा रहता है और दूसरा प्रभात के समय उद्यान की शुद्ध वायु का सेवन करता है। क्या इससे उनके स्वास्थ्य को हानि लाभ नहीं होता ? शुद्ध वायु के सेवनसे दिल और दिमाग में ताजगी का अनुभव होता है, शरीर में हल्कापन महसूस होता है।

शारीरिक रोगी के समान संसारी जीव आध्यात्मिक रोगों से ग्रसित हैं। जब वे किसी रागी-द्वेषी का स्मरण करते है तो उनकी आत्मा राग और द्वेप से अधिक ग्रस्त होती है, परन्तु जब वीतराग परमात्मा का स्मरण किया जाता है तो राग की आकुलता की और शोक के सन्ताप की उपशान्ति हो जाती है। इसी तथ्य को भक्त कवि विनयचन्द जी ने यों प्रकट किया है—

भजन कियां भव-भव ना दुष्कृत,
दुःख दुर्भाग्य टल जावे।
काम क्रोध मद मत्सर तृष्णा,

दुर्मति निकट न आवे रे।
सुज्ञानी जीवा ! भज ले रे जिन इकवीसवां ॥

नेमिनाथ भगवान् की प्रार्थना में कविराज कहते हैं-ऐ साधक ! तू भगवान् का भजन करले। भजन करेगा तो भव-भव के पाप, दुःख और दुर्भाग्य से छुटकारा मिल जाएगा। काम, क्रोध आदि विकार, जो आत्मा की मलिनता के जनक हैं और जिनके कारण दुःखों की उत्पत्ति होती है, तेरे पास भी नहीं फटक सकेंगे।

मगर भजन का आशय यह नहीं है कि तोते की तरह किसी पाठ को बोल लिया जाय। वास्तविक भजन तब होता है जब मन, वचन और काय के योग की शुभ प्रवृत्ति की जाए। अगर कोई प्रार्थी जितेन्द्रिय बन कर, एकाग्रदृष्टि रख कर और ध्यानस्थ होकर प्रार्थना में न जुटा हो तो हो सकता है कि उसका मनोयोग चंचल हो जाए। जो वचन योग की क्रिया में चल रहा है, उसे स्वयं श्रोता बन कर अपने को सुनना चाहिए। ऐसा न हो कि अपने शब्द दूसरा तो सुने पर आप न सुनें। इसमें मजा नहीं आएगा। आपका बोलना आपको सुनना चाहिए। अगर आप बोलने वाले भी बन जाएँ और श्रोता भी बन जाएं तो आपकी चित्तवृत्ति एकाग्र हो जाएगी। मगर कभी-कभी ऐसी स्थिति भी होती है कि बोलने वाले के शब्द दूसरे तो सुनते हैं पर उसे स्वयं पता नहीं रहता कि मैं क्या बोल गया हूं ! ऐसी स्थिति में वह रस और वह मजा नहीं आता। जब हम अपने शब्दों को आप ही श्रोता बन कर सुनते भी तब अद्भुत रस की अनुभूति होती है। इसे कहते है तन्मयता।

अगर वचनयोग के साथ शुभ मनोयोग का भी सामंजस्य हो

जाय और काययोग उसके साथ मिल ही जाए, तो इस शुभ त्रिपुटि की प्रवृत्ति का परिणाम यह होगा कि निश्चित रूप से अशुभ कर्मों का बन्ध टल जाएगा और यदि उस चिन्तन में उस ध्यान में और उस स्मरण में आपने तल्लीनता प्राप्त की है, एकाग्रता पाई है तो अशुभ कर्म दलिकों के प्रक्षय के साथ शुभ कर्मदलिकों का संचय भी होगा। इसलिए भक्त कहते हैं—

भजन कियां भव-भवना दुष्कृत,
दुख दुर्भाग्य मिट जावे।

एक जन्म के नहीं, जन्म-जन्मान्तर के और अतिशयोक्ति नहीं होगी कि कोटि-कोटि जन्मों के, अशुभ कर्मों के दलिक नष्ट हो जाते हैं। भजन करने से दुष्कृत अर्थात् पाप का नाश हो जाता है तो दुख और दारिद्र य का, जो पाप के फल हैं, नाश होना स्वाभाविक ही है; क्योंकि कारण के अभाव में कार्य का अभाव होता ही है। जब अशुभ कर्म नष्ट होते जायेंगे, उनका दायरा सिकुड़ता जायेगा और वे फलेंगे-फूलेंगे नहीं तो दुःख, दरिद्रता और अशान्ति भी नहीं बढ़ेगी। इसके बाद कहा है:—

काम क्रोध मद मत्सर तृष्णा,
दुर्मति निकट न आवे रे।

उन अमीरों की बात आप छोड़ दें जो रात्रि में देरी से सोते हैं और सूर्य की किरणों के फैल जाने पर भी बिस्तर पर पड़े रहते हैं। क्या आप अनुभव नहीं करते कि सूर्य की किरणें पड़ते ही आप की सुस्ती दूर हो जाती है? आप बिस्तर त्याग कर उठ बैठते हैं? इसके अतिरिक्त जिनका जीवन याग में बीत रहा है,

जो निरन्तर वेदना से व्याकुल रहते हैं, वे भी प्रभात के समय शान्ति का अनुभव करते हैं और कहते हैं–'रात भर तो वेदना से कराहता रहा पर प्रभात के समय कुछ शान्ति मिली है।'

तरह-तरह की वेदनाएँ होती हैं, पर कई उदाहरण ऐसे मिलेंगे कि उनमें से कोई प्रभात के समय उपशान्त रहती हैं। यह प्रभातकाल जीवन में स्फूर्ति और उत्साह पैदा करता है। तबियत में हल्कापन लाता है। मगर प्रश्न यह है कि ऐसा क्यों होता है? इसका कारण है सूर्य की किरणें, किरणों में राग-द्वेष नहीं, तथापि उनके सहज स्वभाव से ही वेदना में कमी होती है। इसी प्रकार वीतराग भगवान् के स्वरूप को स्मरण करने से शान्ति लाभ होता है। भक्ति के द्वारा, अन्तः करण में उनके ज्ञान-स्वरूप की जो कोमल किरणें ग्रहण की जाती हैं, उनका यह सहज स्वभाव है कि वे शान्ति और समाधि उत्पन्न करती हैं। जो भक्त वीतराग देव का प्रीतिपूर्वक स्मरण करेगा, उसके मन की दुर्मति, काम, क्रोध, मद, मात्सर्य आदि दुर्भावनाएँ कम होंगी अथवा विनष्ट होंगी। वीतराग के स्मरण रूपी किरणों का यह अवश्यंभावी असर है और जितनी-जितनी मात्रा में विकारों का उपशमन होगा, उतनी ही मात्रा में शान्ति और समाधि वृद्धिंगत होती जाएगी।

जब-जब भी धार्मिक क्रिया में, आत्मिक शान्ति के लक्ष्य को समक्ष रख कर चलेंगे, अवश्य वह प्राप्त होगी। देवाधिदेव वीत-राग परमात्मा का स्मरण, ध्यान और प्रार्थना से जीवन में अपूर्व शान्ति की प्राप्ति होती है। परमात्मप्रार्थना का मुख्य लक्ष्य विकारों को नष्ट करके परमशान्ति प्राप्त करना है। परमशान्ति के मुख्य लक्ष्य में लौकिक शान्ति की प्राप्ति तो गर्भित ही रहती

है। उसके लिए पृथक् प्रयत्न या प्रार्थना करनी आवश्यक ही नहीं होती। उसके लिए कामना भी नहीं करनी पड़ती। आप अपने मन को, हृदय को ऐसी स्थिति में लाइए कि वह यह अनुभव करने लगे कि देवाधिदेव वीतराग के ध्यान से मोह जनित आकुलता कम हो रही है, शोक का वातावरण मिटता जा रहा है! निश्चय ही आपका चित्त शान्त और समाहित होगा। यही बात इन शब्दों में कही गई है-

तित्थयरा मे पसीयंतु।

इस विषय में पहले भी कहा जा चुका है। यहां सिर्फ इतना ही कहना है कि परमात्मा का भक्त जब बार-बार अन्तःकरण में 'पसीयंतु, पसीयंतु' की आवृत्ति करता है, तब उसके चित्त में सघनता से व्याप्त शोक का वातावरण छंटने लगता है, शान्ति का नूतन वातावरण निर्मित हो जाता है।

अगर प्रातः काल में, मन में, तीर्थंकर भगवान् की प्रसन्नता का एवं उनके राग-द्वेष विहीन निर्विकार स्वभाव का स्मरण चिन्तन कर लिया तो आपको अनुभव होगा कि आपकी दिन भर की चर्या प्रसन्नता से व्यतीत होगी और जब आपका दिन भर प्रसन्नता से बीता तो क्या इसका अर्थ यह है कि भगवान् ने आपको कुछ दे दिया? नहीं, भगवान् ने कुछ दिया नहीं, तथापि आपको मिल गया है। इस बात को समझने के लिए आपको पूर्वोक्त वायु और सूर्यकिरणों का उदाहरण ध्यान में रखना चाहिए। जैसे वायु के अनुकूल सेवन से लाभ की और प्रतिकूल सेवन से हानि की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार वीतराग देव के अनुकूल सेवन से लाभ और प्रतिकूल सेवन से हानि होती है।

वीतराग का प्रतिकूल सेवन क्या है ? जिन वचनों को तीर्थंकर के उपदेशोंको ठुकराना, उनकी अवहेलना करना, उनकी आज्ञा का तिरस्कार करना, उनकी ओर अनादर और अवहेलना की दृष्टि से देखना और उनका अवर्णवाद करना । इस प्रकार के प्रतिकूल सेवन रूप गंदे विचारों की हवा को जो अपने मन में भरी रक्खेंगे, वे पापों का संचय करके दुःख, अशान्ति और असमाधि प्राप्त करेंगे ।

अगर किसी सराग देव की बात होती तो कहा जा सकता था कि देव नाराज हो गए, मगर वीतराग के लिए तो राजीनाराज होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता । फिर भी उनका अवर्णवाद करने वाले को दुःख और क्लेश की प्राप्ति होती है । यह दुःख और क्लेश वस्तुतः उसीकी कलुषित भावना का परिणाम है, जो वीतराग के प्रति की गई थी । वीतराग प्रभु के स्वरूप को ठीक तरह समझ कर उनके निमित्त से पवित्र भावना की जो हवा ग्रहण करनी चाहिए थी, उसके बदले उसने निन्दा, विकथा आदि के द्वारा उनकी आसातना की, उनकी आज्ञाओं का उल्लंघन किया, उनके वचनों का उपहास किया और इसप्रकार बुरे चिन्तन की गंदी हवा अपने में भरी, उसने अपने मन को बिगाड़ा, वचन को बिगाड़ा और अपने शरीर पर बुरे विचारों का असर डाला । नतीजा यह होता है कि ऐसा करने वाला अपने जीवन को दुःखों के सागर में डुबा लेता है । अतएव भगवान् के भजन की महिमा गाते हुए कहा गया है—

भजन कियां भव—भव ना दुष्कृत ,
दुःख दुर्भाग्य मिट जावे ।
काम क्रोध मद मत्सर तृष्णा ,

दुर्मति निकट न आवेरे ।
सुज्ञानी जीवा ! भज ले रे जिन इकवीसवां ॥

कवि कहता है—मैं इसलिए प्रार्थना करता हूं कि मेरे अन्तःकरण में पवित्र वायु प्रवेश कर जाय और वह प्रवेश कर जाएगी तो मेरा हृदय मुझे तारने वाला बन जाएगा, जो अभी डुबाने वाला है। अभी मेरे मन रुपी मशक में कचरा भरा है, गंदगी भरी है। अगर उसे गन्दगी से खाली कर दिया जाय और पवित्र वायु भर दी जाय तो वही मेरा तारक होगा।

आपने कभी किसी तैराक को दरिया में तैरते देखा है ? अगर वह चमड़े की मशक या रबड़ का थैला ले ले और उसका मुंह खुला रख कर तैरना चाहे अथवा उसमें रेत भर कर उसके सहारे तैरने का प्रयत्न करे तो क्या तैर सकेगा ? नहीं, डूब जाएगा। तैरने के लिए आवश्यक है कि मशक या थैले में हवा भरी जाय, वायु से परिपूर्ण मशक के सहारे तैरने वाला किसी भी नदी, दरिया, तालाब या बांध में कूद सकता है और तैर सकता है।

तो जिसको डूबना नही है, पार होना है, वह मशक में रेत पत्थर या सोना नही भरेगा, बल्कि हवा भरेगा। इसी प्रकार संसार-सागर को पार करने के लिए हमारा मन मशक के समान है और हम-हमारी आत्मा तैराक है। जीव-तैराक ने मन रूपी मशक को ग्रहण किया। मगर उसमें धन-दौलत कुटुम्ब परिवार आदि की ममता रूपी रेती भरी है, मद मोह मात्सर्य आदि के पाषाण भरे है, दुर्भावना की गन्दगी भरी है। ऐसी मशक को लेकर यदि हम जल यात्रा के लिए उद्यत हो गए हैं

तो यह डुबाने की सामग्री है या तिराने की ? निस्सन्देह इस दशा में आप दुस्तर संसार-सागर से पार नहीं हो सकते। अगर आप पार होना चाहते हैं तो भगवत् नामस्मरण, स्तवन, कीर्त्तन प्रवचन श्रवण और सत्संग की वायु मन-मशक में भरिये। उसे भरने के बाद उसका मुँह बन्द कर लीजिये ताकि उसमें से वह वायु निकल न जाये और उसमें कचरा न भर जाये। इतना करने के बाद आपकी यात्रा में मूलभूत खतरा नहीं रहेगा। आप नहीं रुकेंगे और अवश्य पार हो जायेंगे।

अपने चित्त से इस दुविधा को दूर कीजिए कि भगवान् वीत-राग हैं, अतः उनका स्तवन और आराधन कुछ फलप्रद होगा या नहीं ? इस भ्रम को हटा दीजिए कि हमारा प्रार्थना करना, स्मरण करना और भजन करना बेकार है। भगवान् वीतराग हैं, यह सत्य है, तथापि वीतराग के स्मरण से उत्पन्न होने वाली हमारी प्रशस्त भावना कदापि निष्फल नहीं होती। भावना के अनुसार फल की प्राप्ति होती ही है। भगवत्प्रार्थना से आत्मिक बल की वृद्धि होती है। मन रूपी मशक हल्की होती है।

आप हल्का बनना चाहते हैं या भारी ?

'हल्का'।

आपका कहना तो ठीक है। हल्का या भारी बनने की परीक्षा के दिन सन्निकट आ रहे हैं। होली का त्यौहार निकट ही है। ऐसे उन्मादक प्रसंगों पर भी अगर आप अपने मन को नियंत्रण में रख सकेंगे तो समझा जाएगा कि वास्तव में आप हल्का बनना चाहते हैं।

युग के वातावरण में चलते हुए भी यदि प्रार्थना का संबल

लेकर चलोगे तो मन में ताकत आएगी। मगर वह ताकत उपाश्रय तक ही सीमित नहीं रहनी चाहिए। उसका उपयोग बाहरी जगत् में होना चाहिए। धर्मस्थान पावर-हाउस के समान है। पावर हाउस में उत्पन्न हुई पावर यदि अन्यत्र काम न आई तो उसकी सार्थकता का अर्थ ही क्या है? धर्मस्थान में की हुई धर्म-क्रिया से आत्मा में जो सत्संस्कार प्राप्त होते हैं, उनका उपयोग मकान दुकान और जहान में होना चाहिए। यही धार्मिकता की कसौटी है। यही जीवन निर्माण की सच्ची विधि है।

अगर आपका मन प्रार्थना के गहरे रंग में रंगा होगा तो आप अपने साथी को भी उस रंग में रंग सकोगे। और यदि आप किसी दूसरे रंग में रंगे हैं तो अपने साथियों को भी उसी में रंगेंगे।

विषय और कषाय का रंग कालिख का रंग है। यह जीवन में लगी हुई कालिमा है। इस कालिमा को पोते अनन्त काल व्यतीत हो चुका। संसारी जीव ने अपना जीवन न जाने कितना गंदा कर लिया है और दूसरों के जीवन को कितना गंदा कर दिया है, अड़ौस-पड़ौस के जीवन को भी कितना गंदा बना दिया और ऐसा करते करते आत्मा को नरक के द्वार तक पहुँचा दिया है। गनीमत है कि इतनी गंदगी के बावजूद आपको किसी पुण्य के योग से मनुष्य जीवन और परमात्मा के स्मरण का तथा प्रार्थना का सुन्दर अवसर मिल गया है।

भव्य जीवो! इस सुअवसर का लाभ लो और कम से कम इस जन्म में तो कालिख को न चढ़ाओ। उचित यही है कि हम अपने जीवन को भी उज्ज्वल करें और दूसरों के जीवन को भी उज्ज्वल बनाने का यत्न करें। आप प्रार्थना में यही भावना लेकर जायें। बूढ़े बच्चे और युवक—सभी इस भावना को आत्मसात् करें।

गन्दे वातावरण का निर्माण करने वाले भी आप हैं और प्रशस्त परम्पराओं की प्रतिष्ठा करने वाले भी आप ही हैं। आप के वातावरण का निर्माण कोई दूसरा नहीं करता। गंदा वातावरण बनाने में आप अग्रगामी बनते हैं तो दूसरों को भी प्रोत्साहन मिलता है। इसके बदले अगर आप कोई अच्छी परम्परा शुरु करें तो आपका भी भला हो और दूसरों का भी भला हो सकता है।

वीतराग बनने से पहले अप्रशस्त राग का त्याग करके प्रशस्त राग में जाना पड़ेगा, अशान्ति से शांति में और अशुभ से शुभ में जाना होगा। जो शुभरागी होंगे वे साधना के बल पर एक दिन वीतराग बनेंगे। ऐसा किये बिना वीतरागता प्राप्त नहीं की जा सकती। वीतरागता प्राप्त करने के लिए जीवन में पैठी हुई कुटेवों को बदलने की आवश्यकता है।

व्यक्तिगत जीवन को बदलना उतना कठिन नहीं है। एक तरफ बैठकर भी उसे बदला जा सकता है, परन्तु सामूहिक जीवन में परिवर्तन लाने के लिए विशिष्ट प्रयोगों की आवश्यकता होती है, वहां एक कोने में बैठ रहने से काम नहीं चलता। सार्वजनिक जीवन में सुधार करने की भावना वाला देखता है कि यह गंदगी इस तरकीब से दूर की जा सकती है। उदाहरणार्थ होली के अवसर पर लोग आम तौर से गंदी गालियां बकते हैं और गन्दे गीत गाते हैं। ऐसी स्थिति में सामूहिक चिन्तन वाला, सामूहिक शुभ चेतना देने वाला कोई तरुण या कोई संस्था उसका समुचित और सफल प्रतीकार सोचेगा। वह गन्दे गीतों की जगह नयी शैली के शुभ गीत जनता के समक्ष रखेगा। वह इस विचार के दस-बीस तरुणों को तैयार कर लेगा और जब दस बीस हो जाएंगे तो अपनी टोली को और अधिक बढ़ा लेंगे। इस प्रकार एक दिन वे सामूहिक जीवन को नयी दिशा में मोड़ देने में समर्थ हो सकेंगे।

माताओं और बहिनों के मन पर अगर वीतराग की प्रार्थना का रंग चढ़ा होगा और तरंग उत्पन्न हुई होगी तो गंदे गीत गाने के अवसर पर वे भगवद्भक्ति के गीत और प्रार्थना का संगीत आलापने लगेंगी और सारे गन्दे वातावरण को पलटकर शुभ वातावरण के रूप में परिवर्तित कर देंगी। ऐसा करने वाली बहिनें समाज का ही नहीं, अपने बाल बच्चों का भी भला करेंगी और बालकों के कोमल दिल और दिमाग पर अच्छा असर डालेंगी। उनको गन्दे विचारों और वासनाओं की ओर नही जाने देंगी।

सामूहिक रूप में मनाया जाने वाला त्यौहार (होली) दो ही दिन के बाद आने वाला है। मैं आशा करता हूँ कि आप अपना जीवन, अपने बच्चों का जीवन और तरुणों का जीवन विषयों और कषायों की ओर नहीं बहाएँगे। उस पर नयी कालिख नहीं पोतेंगे। अपने जीवन को कालिख से बचाइए, अड़ौस-पड़ौस और मुहल्ले वालों को भी इस कालिख से बचाने का प्रयत्न कीजिए।

यहां तरुणों ने तरुणपरिषद् बना रक्खी है। बच्चों की बालपरिषद् भी कायम है। इन संस्थाओं का उपयोग बुराई को दूर करके अच्छाई कायम करने के लिए होना चाहिए।

वीतराग की प्रार्थना का और ध्यान का यह असली रूप जीवन में प्रकट होना चाहिए। प्रत्येक भाई-बहिन को, बालक-वृद्ध और तरुण को यह संकल्प करना चाहिए कि हम अश्लील शब्दों का प्रयोग नहीं करेंगे, कीचड़ नहीं उछालेंगे और शिष्टाचार से विपरीत कोई कार्य नहीं करेंगे। अगर कोई दूसरा ऐसा करेगा तो उसमें रस नही लेंगे और किसी भी रूप में उसे प्रोत्साहन नहीं देंगे। हम यथासंभव सामूहिक रूप में सत्संस्कार जगाने का प्रयत्न करेंगे।

माना कि आप त्यागी, वैरागी साधु नहीं हैं और आप सहसा हास्य-विनोद से, आमोद-प्रमोद से, खान-पान की विशेषता से निवृत्त नहीं हो सकते, फिर भी कम से कम गंदे तरीकों से तो बच ही सकते हैं। अगर आप निष्कलुष्मय तरीके से, भद्र नागरिक के रूप में अपना जीवन-यापन करते हैं तो यह चीज आपके व्यक्तिगत जीवन के लिए और सामूहिक जीवन के लिए भी हितकर होगी, शोभाजनक होगी।

आज इस चीज़ की बहुत आवश्यकता है। इस युग में धर्म-विरोधी भावनाएँ प्रचण्ड रूप ग्रहण कर रही हैं और हिंसा के कामों को उत्तेजना मिल रही है। अगर सामूहिक त्यौहारों के अवसर का लाभ उठाकर आप ऐसी प्रवृत्तियों पर विचार करें और उन्हें रोकने के तरीके सोचें और सामूहिक मिलन के अवसर का सदुपयोग इन बुराइयों के निराकरण के उपायों पर विचार करने के लिए करें तो समाज की महत्वपूर्ण सेवा हो सकती है।

दिल्ली में एक बड़ा विशाल कत्लखाना नया बनने वाला है। पहले से जो चल रहे हैं, वे तो हैं ही। इस नवीन कत्लखाने में १२०० भैंस-बकरे प्रतिदिन कत्ल किये जाएँगे। दूसरे अनेक जानवर मारे जाएँगे सो अलग। ऐसे अवसर पर आप को उसकी रोकथाम के लिए उपाय सोचने चाहिए। अहिंसा के प्रेमी यदि यह सोचकर चुप रह जाएँ कि-सरकार कत्लखाना खोल रही है। उसके सामने हमारी क्या चलेगी? तो यह उचित नहीं है। प्रजातंत्री सरकार प्रजा की इच्छा से चलती है और उसे चलना चाहिए। यदि प्रजा की आवाज में बल होगा तो सरकार को अपना निर्णय बदलना पड़ेगा। कतिपय अहिंसा प्रेमियों ने इस कत्लखाने के खिलाफ आवाज उठाई है और वे आवाज को बुलंद करना चाहते हैं। केन्द्र में भी विरोध हुआ है और देश के

दूसरे-दूसरे हिस्सों में भी। अहिंसा प्रेमियों का चाहे वे किसी भी धर्म, पंथ या सम्प्रदाय के अनुयायी हों, कर्त्तव्य हो जाता है कि वे संगठित होकर और डट कर हिंसा का विरोध करें। इस विरोध को सरकार के कानों तक पहुंचावें। सामूहिक मिलन के अवसर इसके लिए उपयुक्त हो सकते हैं। अगर आपकी यह आवाज़ कि आप देश वासी ऐसे हिंसाकृत्यों को देश के लिए अभिशाप समझते हैं, मानवता के लिए अभिशाप समझते और भारत की संस्कृति के लिए अभिशाप समझते हैं, बुलंद हो कर सरकार के कानों तक पहुंचेगी तो सरकार को विवश होकर सोचना पड़ेगा।

कुछ लोग सरकार के इस प्रकार के कृत्यों का विरोध करना 'विरुद्धरज्जाइक्कमे' अर्थात् राज्य के विरुद्ध कार्य करना समझते हैं, किन्तु यह भ्रम मात्र है। प्रजा हित की दृष्टि से राज्य ने जो मर्यादायें बनाई हैं, उनका अपने स्वार्थ से प्रेरित होकर अवैधानिक रूप से उल्लंघन करना दोष है। भारत चीन-संघर्ष में भारतीय हितों के विरुद्ध चीन का साथ देना और इस प्रकार देश द्रोह करना दोष है, मगर भारतीय संविधान के अनुसार जब आप को सरकार के किसी प्रस्ताव या कानून का विरोध करने का अधिकार प्राप्त है और आप अपने उस अधिकार का सदुपयोग करते हैं, दे समाज और संस्कृति की रक्षा की पवित्र भावना से विरोध करते है तो आप 'विरुद्धरज्जाइक्कमे' दोष के भागी नहीं होते। इतना ही नहीं, जिस विधान को आप देश हित के, धर्म के, संस्कृति के विरुद्ध समझते हैं और जिसका विरोध करने का आप अधिकार रखते है, उसका भी अगर आप विरोध नहीं करते और उसे चुपचाप स्वीकार कर लेते हैं तो यह आपकी दुर्बलता है, आप के लिए कलंक की बात है।

इस प्रकार वीतराग की प्रार्थना करके और उनकी आज्ञा का अनुसरण करके यदि आप अपने अन्तःकरण को हल्का बनायेंगे और गन्दगी का, विषय-कषाय का त्याग करके अपने जीवन को परमात्मनिष्ठ बनायेंगे तो आपका कल्याण होगा।

लाल भवन
जयपुर
१०-३-६०

प्रार्थनीय कौन ?

•

प्रात कळ श्री शांति जिनन्द को,
सुमिरण कीजे घड़ी घड़ी ।
संकट कोटि कटे भवसंचित,
जो ध्यावे मन भावकरी ।१।

जन्मत पाम्या जगत दुख टलियो,
गलियो रोग असाध्य मरी,
घट घट अन्तर आनन्द प्रकट्यो,
हुलस्यो हियड़ो हरख भरी ।२।

आपद् व्यन्तर, पिशुन भय भाजे,
जैसे पेखत मिरग हरि,
एकरण चित्त ध्रुव मन ध्याता,
प्रगटे परिचय परमसिरि ॥३॥

गये विलाय भरम के बादल,
परमारथ पद पवन करी,
अवर देव एरंड कुण रोपै,
जो निज मन्दिर केल फलि ॥४॥

प्रभु तुम नाम जप्यो घट अन्तर,
तो शुं करिये करम अरि,
"रतनचन्द" शीतलता व्यापै,
पातक जाय कषाय टरि ॥५॥

अभी आपने भगवान् शान्तिनाथ की स्तुति का गान किया है। भगवान् शान्तिनाथ वर्तमान चौवीसी में सोलहवें तीर्थंकर हुए हैं। किन्तु अर्थ की दृष्टि से देखा जाय तो ऐसे कोई तीर्थंकर नहीं, जिनका नाम शान्तिनाथ न रखा जा सके। जीवन की दृष्टि से, आध्यात्मिक विकास के स्तर की परिपूर्णता की दृष्टि से अथवा जगत् के प्राणियों की शान्ति में निमित्त होने की दृष्टि से सभी अर्हन्त शान्तिनाथ हैं। फिर भी एक विशेष स्थिति और घटना के आधार पर सोलहवें तीर्थंकर का नाम शान्तिनाथ रखा गया था।

तो भगवान् शान्तिनाथ का नाम एक विशिष्ट घटना से संबद्ध है, मगर इसका अर्थ यह नहीं कि यदि अन्य तीर्थंकरों से वह घटना संबद्ध होती तो भगवान् शान्तिनाथ की तरह ये तीर्थंकर उसे उस रूप में प्रभावित न कर पाते, समस्त तीर्थंकरों का पुण्य, प्रभाव, माहात्म्य एवं सामर्थ्य समान होता है, क्योंकि जन्म-जन्मान्तर की जिस विशिष्ट साधना के बीज से तीर्थंकरत्व का लाभ होता है, वह साधनाबीज सभी तीर्थंकरों में समान होता है। उनका जीवन अलग-अलग होता है, परन्तु अलग-अलग प्रकार का नहीं होता।

शांति आत्मा से सम्बन्धित एक वृत्ति है जिसका परिणमन विचारों में होता है। ज्यों-ज्यों राग और द्वेष की आकुलता कम होती जाती है और ज्ञान का आलोक फैलता जाता है, त्यों-त्यों अन्तःकरण में शान्ति का विकास होता जाता है।

अर्हन्तों में चाहे ऋषभदेव हों, अजितनाथ हों या महावीर हों, कोई भी क्यों न हो, जब उनके जीवन में राग, द्वेष, काम, क्रोध और मोह का पूरी तरह क्षय हो जाता है, अन्तराय, ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मों का भी समूल उन्मूलन हो जाता है, तभी उन्हें अर्हत् पद प्राप्त होता है।

इस प्रकार चार घनघातिया कर्मों का क्षय करके जो अर्हत पद को प्राप्त करते हैं, वही हमारे यहां भाव-अरिहन्त कहलाते हैं।

प्रत्येक अन्य वस्तु के समान 'अरिहन्त' के सम्बन्ध में भी विचार करने के लिए निक्षेपों की पद्धति अपनाई गई है। इस आधार पर अरिहन्त चार प्रकार के होते हैं—(१) नाम-

अरिहन्त (२) स्थापना-अरिहन्त (३) द्रव्य-अरिहन्त (४) और भाव-अरिहन्त।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इन चार प्रकार के अरिहन्तों में कौन हमारे लिए वन्दनीय एवं प्रार्थनीय है? और कौन ध्यान करने योग्य है? किन्तु इस प्रश्न का समाधान प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि पहले इसके स्वरूप को समझ लिया जाय।

सर्वप्रथम नाम-अरिहन्त को ही लीजिए। नाम अरिहन्त का सम्बन्ध अरिहन्त सम्बन्धी गुणों से नहीं है। जिस किसी भी जड़ या चेतन पदार्थ की 'अरिहन्त' ऐसी संज्ञा रखदी जाती है, वही नाम-अरिहन्त कहलाने लगता है। कोई पिता अपने पुत्र का नाम 'अरिहन्त' रख देता है तो वह पुत्र नाम से अरिहन्त है। अर्हद्दास, जिनदास, आदि प्राचीन नाम आपने सुने हैं। आजकल भी विशेष तीर्थंकरों के नाम पर सैकड़ों नाम प्रचलित हैं— ऋषभ कुमार, अजितकुमार आदि। इसी प्रकार वर्धमान, पार्श्वनाथ, जिनराज आदि नाम भी रक्खे जाते हैं। इसी प्रकार अगर आपने अपने पुत्र का नाम 'अरिहन्त' रख लिया है तो इसी नाम से आप उसे बुलाते हैं और वह बोलता है। यद्यपि उसमें अरिहन्त का कोई गुण—वीतरागता और सर्वज्ञता—नहीं है, तथापि आप उसे अरिहन्त कहते हैं। तब यह कौनसा अरिहन्त हुआ? जैन सिद्धान्त के अनुसार वह नाम अरिहन्त है।

जैसे नाम-अरिहन्त होते हैं वैसे स्थापना-अरिहन्त भी हैं। स्थापना-अरिहन्त में भी गुणों की अपेक्षा न रखते हुए किसी वस्तु में अरिहन्त का आरोप किया जाता है। जैसे भूगोल के नक्शे में कोई निशान बना कर कह दिया जाता है कि यह हिमालय है,

यह अरावली पर्वत है, यह विन्ध्याचल है, यह झील है, यह मदुरै नगर है। जम्बू द्वीप के नक्शे में, बिल्कुल बीचोंबीच एक बिन्दु रख दिया जाता है और उसे मेरुपर्वत कह दिया जाता है। यह स्थापना निक्षेप है। यदि कोई उस बिन्दु को स्वर्णाचल समझ कर उसमें सोना खोजने लगे या नक्शे के हिमालय से बर्फ या पानी प्राप्त कर लेना चाहे तो वह भूल करेगा। वस्तुतः स्थापना असली वस्तु को समझाने के लिए संकेत मात्र है। वह नवीन सीखने वाले को समझने के लिए संकेत मात्र है। अभिप्राय यह है कि अरिहन्त को समझाने के लिए या अन्य किसी इच्छा से किसी वस्तु में उनका आरोप कर दिया जाता है। वह वस्तु चाहे मूर्ति हो या अक्षत आदि कुछ और हो, उसमें 'यह अरिहन्त' ऐसा जो आरोप कर दिया जाता है, उसे स्थापना-अरिहन्त कहते हैं।

विवाह शादी के समय आपने देखा होगा कि कुछ अक्षत रखे जाते हैं और उन पर कुम्कुम के छींटे डाल दिये जाते हैं और ब्राह्मण मन्त्रोच्चारण करता है—'अयं इन्द्रः अयं वरुणः'। इस प्रकार वह इन्द्र और वरुण देव की स्थापना कर देता है। पाषाण-खंडों में गणेशजी भैरूंजी आदि का आरोप कर लिया जाता है।

जहां अल्पकालीन स्थापना करनी होती है वहां स्थापनीय देव का आह्वान किया जाता है। आह्वान का अर्थ है स्थापनीय देव का उस प्रतीक रूप वस्तु में बुलाना। मगर जब कार्य समाप्त हो जाता है तो 'सर्वे यान्तु यथास्थितिम्' अर्थात् जिन देवों को यहां बुलाया था, वे सब अब अपनी-अपनी जगह चले जाएं, ऐसा कह कर उनका विसर्जन कर दिया जाता है। तत्पश्चात् उन अक्षतों को समेट कर एक ओर रख दिया जाता है।

इस प्रकार आह्वान से लेकर विसर्जन तक स्थापना रहती है

और स्थापना के समय, जिसमें स्थापना की गई है उस प्रतीक को उसी देव के नाम से पुकारा जाता है।

इन्द्र आदि की तरह अरिहन्त की भी सिद्धचक्रमंडल में स्थापना की जाती है। स्थापना तदाकार भी होती है और अतदाकार भी होती है। स्थापनीय के सदृश आकार की मूर्ति या चित्र को तदाकार स्थापना कहते हैं और जिस स्थापना में उसका आकार न हो ऐसे अक्षत आदि को अतदाकार स्थापना कहा जाता है। सारांश यह है कि किसी तदाकार या अतदाकार वस्तु में अरिहन्त की जो स्थापना की जाती है, जो आरोप किया जाता है उसे स्थापना अरिहन्त कहते हैं।

तीसरा भेद है द्रव्य अरिहन्त। यहाँ द्रव्य का क्या अभिप्राय है, यह देखना है। द्रव्य शब्द की दो व्याख्या सामान्यतया दो प्रकार से की गई है—

(क) भावस्य कारणं द्रव्यम्।

(ख) अनुपयोगो द्रव्यम्॥

पहली व्याख्या के अनुसार जो भाव का कारण है, वह द्रव्य है, अर्थात् जिस वस्तु में वर्त्तमान में कोई विवक्षित पर्याय (भाव) नहीं है, परन्तु उसका कारण रूप जो पर्याय विद्यमान है, वह इस समय द्रव्य कहलाएगा। उदाहरणार्थ—कोई व्यक्ति वर्तमान काल में साधु के आचार का पालन नहीं कर रहा है मगर कुछ घड़ियों या दिनों के बाद वह साधु बन कर साधु के आचार का पालन करेगा, तो वह व्यक्ति इस समय द्रव्य साधु कहलाएगा।

यह बालक आज घर का मालिक नहीं है, किन्तु कल हो जायगा तो यह द्रव्यगृहपति कहलाया, द्रव्य सेठ कहलाया। उसे

यह अरावली पर्वत है, यह विन्ध्याचल है, यह झील है, यह अमुक नगर है। जम्बू द्वीप के नक्शे में, बिल्कुल बीचोंबीच एक बिन्दु रख दिया जाता है और उसे मेरुपर्वत कह दिया जाता है। यह स्थापना निक्षेप है। यदि कोई उस बिन्दु को स्वर्णाचल समझ कर उसमें सोना खोजने लगे या नक्शे के हिमालय से बर्फ या पानी प्राप्त कर लेना चाहे तो वह भूल करेगा। वस्तुतः स्थापना असली वस्तु को समझाने के लिए संकेत मात्र है। वह नवीन सीखने वाले को समझने के लिए संकेत मात्र है। अभिप्राय यह है कि अरिहन्त को समझाने के लिए या अन्य किसी इच्छा से किसी वस्तु में उनका आरोप कर दिया जाता है। वह वस्तु चाहे मूर्ति हो या अक्षत आदि कुछ और हो, उसमें 'यह अरिहन्त' ऐसा जो आरोप कर दिया जाता है, उसे स्थापना-अरिहन्त कहते हैं।

विवाह शादी के समय आपने देखा होगा कि कुछ अक्षत रखे जाते हैं और उन पर कुम्कुम के छींटे डाल दिये जाते हैं और ब्राह्मण मन्त्रोच्चारण करता है-'अयं इन्द्रः अयं वरुणः'। इस प्रकार वह इन्द्र और वरुण देव की स्थापना कर देता है। पाषाण-खंडों में गणेशजी भैरूंजी आदि का आरोप कर लिया जाता है।

जहां अल्पकालीन स्थापना करनी होती है वहां स्थापनीय देव का आह्वान किया जाता है। आह्वान का अर्थ है स्थापनीय देव का उस प्रतीक रूप वस्तु में बुलाना। मगर जब कार्य समाप्त हो जाता है तो 'सर्वे यान्तु यथास्थितिम्' अर्थात जिन देवों को पहले बुलाया था, वे सब अब अपनी-अपनी जगह चले जाएं, ऐसा कह कर उनका विसर्जन कर दिया जाता है। तत्पश्चात् उन अक्षतों को समेट कर एक ओर रख दिया जाता है।

इस प्रकार आह्वान से लेकर विसर्जन तक स्थापना रहती है

और स्थापना के समय, जिसमें स्थापना की गई है उस प्रतीक को उसी देव के नाम से पुकारा जाता है।

इन्द्र आदि की तरह अरिहन्त की भी सिद्धचक्रमंडल में स्थापना की जाती है। स्थापना तदाकार भी होती है और अतदाकार भी होती है। स्थापनीय के सदृश आकार की मूर्ति या चित्र को तदाकार स्थापना कहते हैं और जिस स्थापना में उसका आकार न हो ऐसे अक्षत आदि को अतदाकार स्थापना कहा जाता है। सारांश यह है कि किसी तदाकार या अतदाकार वस्तु में अरिहन्त की जो स्थापना की जाती है, जो आरोप किया जाता है उसे स्थापना अरिहन्त कहते हैं।

तीसरा भेद है द्रव्य अरिहन्त। यहाँ द्रव्य का क्या अभिप्राय है, यह देखना है। द्रव्य शब्द की दो व्याख्या सामान्यतया दो प्रकार से की गई है—

(क) भावस्य कारणं द्रव्यम्।

(ख) अनुपयोगो द्रव्यम्॥

पहली व्याख्या के अनुसार जो भाव का कारण है, वह द्रव्य है, अर्थात् जिस वस्तु में वर्त्तमान में कोई विवक्षित पर्याय (भाव) नहीं है, परन्तु उसका कारण रूप जो पर्याय विद्यमान है, वह इस समय द्रव्य कहलाएगा। उदाहरणार्थ—कोई व्यक्ति वर्तमान काल में साधु के आचार का पालन नहीं कर रहा है मगर कुछ घड़ियों या दिनों के बाद वह साधु बन कर साधु के आचार का पालन करेगा, तो वह व्यक्ति इस समय द्रव्य साधु कहलाएगा।

यह बालक आज घर का मालिक नहीं है, किन्तु कल हो जायगा तो यह द्रव्यगृहपति कहलाया, द्रव्य सेठ कहलाया, उसे

आज वास्तविक स्वामित्व प्राप्त नहीं है और वह गृहस्वामी के अधिकार का उपयोग नहीं कर सकता और ऐसा करना उसके लिए उचित भी न होगा, मगर कल तो वह गृहस्वामी बनने वाला है। ऐसी स्थिति में उसे द्रव्य गृहस्वामी कहा जाता है।

यद्यपि आप मन में जानते हैं कि कल वह घर का मालिक होने वाला है, फिर भी जब तक वह कानूनी तौर पर घर का मालिक नहीं बन जाता है, तब तक उसे मालिक मान कर लेनदेन आदि का व्यवहार नहीं करते। इसका कारण यही है कि वह अभी वास्तविक (भाव) मालिक नहीं है। ऐसा जानकर भी अगर आप कोई लेनदेन कर लेंगे तो वह जायज या प्रामाणिक नहीं गिना जाएगा। अगर न्यायालय या पंचायत के सामने आपका मामला पेश किया जायगा तो वह खारिज हो जाएगा।

यही बात द्रव्य–अरिहन्त के विषय में समझ लीजिए। जिसने अभी चार घातिक कर्मो का क्षय तो नहीं किया है किन्तु भविष्य में क्षय करने वाला है, वह अभी 'अरिहन्त' शब्द से कहा जाता है तो वह द्रव्य अरिहन्त है।

द्रव्य–अरिहन्त कब से कब तक है ? 'अरिहन्त' शब्द का अर्थ यदि तीर्थंकर तक ही सीमित मान लिया जाय तो तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध करने के समय से लेकर जबतक तीर्थंकर नाम कर्म का तेरहवें गुणस्थान में उदय नहीं हो जाता, तब तक उसे द्रव्य तीर्थंकर या द्रव्य–अरिहन्त कहेंगे। अर्थात् तीर्थंकर नाम कर्म के बन्ध और उदय के बीच की सत्ता अवस्था जब तक रहेगी तब तक वह जीव द्रव्य तीर्थंकर कहलाएगा।

श्री मानतुंगाचार्य ने स्तुति करते हुए कहा है—

यैः शान्तरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वम्,
निर्मापितस्त्रिभुवनैकललामभूत ।
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्यां,
यत्ते समानमपरं न हि रूपमस्ति ॥

अर्थात्—आश्चर्य है भगवन् ! कि दुनियां में तुम्हारे समान सुन्दर आकृतिवाला, सौम्य मुखमुद्रा वाला, लोकोत्तर सौंदर्य से मंडित अंगोपांग वाला दूसरा कोई मनुष्य मिलता ही नहीं। आखिर इसका कारण क्या है ?

आचार्य ने अपने आप से प्रश्न करके आप ही उत्तर दिया—इस विशाल विश्व में अगणित प्राणी हैं, परन्तु जिन उत्कृष्ट परमाणुओं से तुम्हारे शरीर की रचना हुई है, जान पड़ता है वैसे परमाणु उतने ही थे। अगर वैसे परमाणु और होते तो तुम्हारा जैसा दूसरा शरीर भी बना होता। मगर वैसा शरीर दूसरा दृष्टिगोचर नहीं होता, अतएव यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि तुम्हारा शरीर बनने के बाद उन जैसे परमाणु बचे ही नहीं। कितनी सुन्दर और मनोरम कल्पना है।

यहां इस उल्लेख का अभिप्राय यह है कि शरीर के उस आदिकाल से लेकर अन्त काल तक जिस शरीरपिण्ड को हम अरिहन्त कहते हैं, वह भी वस्तुतः द्रव्य अरिहन्त है। उस द्रव्य अरिहन्त रूप पिण्ड के निमित्त से भाव-अरिहन्त पद की साधना हुई है। अतएव जो साधक भाव-अरिहन्तपद का लाभ लेना चाहते हैं, उन्हें उस द्रव्य-अरिहन्त का भी आदर करके चलना है। लेकिन वह पिण्ड तब तक वंदनीय, प्रार्थनीय या कमनीय नहीं बनता जब तक वह भाव-अरिहन्त का दर्जा नहीं पा लेते। यही

कारण है कि तीर्थंकर के जन्म के समय देवों ने, देवियों ने, इन्द्रों और इन्द्रानियों ने तो आकर नमस्कार किया, पर साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविकाओं ने नमस्कार नहीं किया।

इसी प्रकार जव तीर्थंकरों की आत्मा शरीर का त्याग कर जाती है-तीर्थंकरों का निर्वाण हो जाता है और शरीर पिण्ड मात्र शेप रह जाता है, तब भी देव-देवेन्द्र ही उस शरीर का सन्मान करते हैं, उसे वन्दन-नमस्कार करते हैं, मगर गणधर, साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका उसे वन्दन आदि नहीं करते। इसका कारण यही है कि वहां भाव-अरिहन्त का स्वरूप नहीं है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, क्षायिक समकित, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य आदि जो गुण भाव अरिहन्त पद के लिए अनिवार्य हैं, उनका अस्तित्व उस निर्जीव शरीर पिण्ड में नहीं रहा इन्हीं गुणों के कारण कोई आत्मा भाव अरिहन्त कहलाती है। इन गुणों के अभाव में शरीरपिण्ड द्रव्य-अरिहन्त है।

इस प्रकार हम जिनकी प्रार्थना करते हैं, वन्दना करते हैं, और जिनको अपने कल्याण में आदर्श मानकर चलते हैं, वे पहले के तीन-नाम, स्थापना या द्रव्य अरिहन्त नहीं, वरन् भाव-अरिहन्त ही हैं, जिन्होंने सर्वज्ञता और वीतरागता प्राप्त कर ली है, जिनकी आत्मा में अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र और अनन्त आत्मिक शक्ति का असीम सागर लहरा रहा है, जिनकी वीतराग-तामयी वाणी संसार को सन्मार्ग वतला रही है। वही अरिहन्त हमारे प्रार्थनीय हैं, वन्दनीय हैं, और नमनीय हैं उन्हीं की प्रार्थना से प्रार्थी को प्रार्थना का वास्तविक लाभ मिलता है। शरीरधारी होने के कारण वह अरिहन्त चाहे बोल कर किसी को धर्म का लाभ दें अथवा कभी न भी दें, फिर भी भाव अरिहन्त का स्मरण और ध्यान करने से हमारी आत्मा में वह तेज प्रस्फुटित

होता है, जिस तेज के कारण हमारी आत्मा की शक्तियां विकसित हो जाती हैं। इसी लिए कविराज विनय चन्द्रजी कहते हैं–

शिवसुख प्रार्थना करसूं,
उज्ज्वल ध्यान हिये धरसूं,
रसना तुम महिमा करसूं
प्रभु! इण विध भवसागर तरसूं,

मुझ म्हेर करो चन्द्रप्रभु जग-जीवन- अन्तर्यामी,
भवदुःख हरो, सुणिए अरज हमारी हो त्रिभुवनस्वामी ॥

यहां कवि ने दो हेतु स्पष्ट कर दिये हैं। पहले कहा–मैं भौतिक सुखों के लिए प्रार्थना नहीं करता। मैं खाने पीने, पहनने या बाल बच्चों का सुख पाने की प्रार्थना नहीं करता। मैं तो केवल मुक्ति-सुख की, आत्मिक सुख की या निजानन्द की प्रार्थना करूंगा। मगर जब तक अशुभ भाव से हट कर उज्ज्वल शुभ भाव में नहीं आएंगे तब तक आपकी प्रार्थना वैसी ही होगी जैसे कोई सैनिक हवा में फायर करता हो। हवा में फायर करने वाले सैनिक को क्या लाभ होने वाला है? वह अपनी शक्ति को व्यर्थ ही नष्ट करेगा, क्योंकि उसका कोई निर्धारित लक्ष्य नहीं है, इसी प्रकार यदि हम परमात्मा के सत् स्वरूप को लक्ष्य करके प्रार्थना करेंगे तो हमारा निशाना खाली नहीं जाएगा–हमारा प्रयत्न विफल नहीं होगा। हमारी आत्मा के विकार खत्म हो जाएंगे, सदा के लिए दूर हो जाएंगे। हम अपनी प्रार्थना का निशान शोक को बनावें, चिन्ता को बनावें, काम या क्रोध को बनावें, राग या द्वेष को बनावें, अहंकार को बनावें, जिस किसी भी विकार को

निशान बनाकर प्रार्थना का अमोघ बाण छोड़ेंगे, तो वह अपना काम करेगा और प्रार्थी अनुभव करेगा कि मेरी जो दुर्बलता थी, भगवान् की प्रार्थना करते-करते वह खत्म हो गई है।

एक व्यक्ति बड़ा क्रोधी है, घमंडी है, लालची है, तमोगुणी है, परन्तु वह उज्ज्वल भाव से प्रार्थना करेगा तो चन्द दिनों में ही उसे आभास होने लगेगा कि मेरी क्रोध की प्रकृति में कुछ मन्दता आ गई है, इस लिए कवि कहता है–

शिवसुख प्रार्थना करसूं,
उज्ज्वल ध्यान हिये धरसूं।

शुभ ध्यान धारण करके निशाना कहाँ लगाना है ? इस विषय में कहा गया है–

रसना तुम महिमा करसूं।

अर्थात्–प्रभो ! रसना से तुम्हारी महिमा का गान करूंगा।

अगर उज्ज्वल ध्यान के साथ यह रसना परमात्मा की महिमा का गान करने लगे तो निश्चित समझिए कि आपके अन्तःकरण में वह ज्योति, वह अपूर्व प्रकाश, वह शान्ति व्याप्त हुए बिना नहीं रहेगी जिसे पाकर मानव धन्य हो जाता है। मगर पहला ही पाया अगर कच्चा रहा, ध्यान में उज्ज्वलता न आई, आसन ठीक नहीं लगाया, आसन चंचल, दृष्टि भी चपल और मस्तिष्क भी चंचल रहा, सर्वत्र चंचलता व्याप्त रही और 'नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं' कहकर जल्दी से माला घुमा ली तो कुछ भी आनन्द आने वाला नहीं है, अभीष्ट सिद्धि होने वाली नहीं है। ऐसा करते एक दिन नहीं, एक युग भी पूरा कर दो,

एक जीवन भी समाप्त कर दो और अनन्त काल भी व्यतीत कर दो तब भी वह आनन्द आने वाला नहीं। अतएव सर्वप्रथम पहला पाया ठीक करलो-ध्यान उज्ज्वल करलो। अगर आप अन्तःकरण को नियन्त्रित करना चाहते हैं तो पहले आसन पर काबू होना चाहिए।

आप पाव-आधा घंटा प्रार्थना करने के लिए बैठते हैं, मगर इतने समय तक भी एक आसन से नहीं बैठे रह सकते। एक दृष्टि नहीं रख सकते। किन्तु जब 'पिक्चर' देखने जाते हैं, तब क्या होता है? उस समय भी क्या ऐसा होता है कि सामने पिक्चर प्रदर्शित हो रही है और आप इधर-उधर देखते हैं? नहीं वहां ऐसा नहीं होता। वहां आप एकाग्र रहते हैं। वहां दूसरे 'शो' में भी आपको नींद नहीं आती। किन्तु यहां आपकी गर्दन हर समय हिलती रहती है, और रबर के स्प्रिंगदार पुतले की भांति घूमती रहती है ऐसी स्थिति में न प्रार्थना का असली रूप सामने आता है और न प्रार्थना का पूरा लाभ मिलता है। होली के अवसर पर अनेक स्वांग बनाए जाते हैं। बहुरूपिया नाना प्रकार के स्वांग रचता है। इसी प्रकार हमें प्रार्थी का स्वांग नहीं करना चाहिए वरन् गंभीरता और सचाई के साथ प्रार्थी के उत्तरदायित्व को निभाना चाहिए।

एक बार हमने सुना था, राजाशाही जमाने में किसी बहुरूपिया ने स्वांग किया। वह उसका धन्धा था। स्वांग रचने की कला में वह इतना प्रवीण था कि दर्शकों को उसके नक्काल होने की कल्पना भी नहीं हो सकती थी। वह साक्षात् वही मालूम होता था। उसने बहुत बार ऐसे स्वांग किये थे।

एक दिन उसने बूढ़े सन्यासी का रूप धारण किया। बड़े ढंग से राजा के दरबार में पहुंचा। राजा ने दूर से देखकर समझा-कोई

हमारे गुरुदेव आ रहे हैं। राजा ने तत्काल सिंहासन से नीचे उतर कर उसे प्रणाम किया। ज्योंही राजा उसके चरणस्पर्श के लिए उद्यत हुआ, बहुरूपिया पीछे खिसक गया। राजा तुरंत स्थिति को समझ गया और शरमा गया। साथ ही राजा के मन में रोष भी उत्पन्न हुआ कि इस बदतमीज ने मेरे आराध्य गुरु का वेष धारण करके मुझे लज्जित किया है, इस दुष्टता का दंड इसे अवश्य मिलना चाहिए।

बहुरूपिया राजा के चहरे को देखकर उसके मनोगत भावों को ताड़ गया। वह समझ गया कि इस स्वांग के बदले मुझे कुछ कठोर दंड मिलने वाला है। उसने तत्काल यह भी सोच लिया कि दंड मिलने से पहले ही मुझे सँभल जाना चाहिए। भांड बड़े विचक्षण होते हैं और मनोगत भावों को ताड़ लेने की उनकी क्षमता बड़ी तीक्ष्ण होती है।

बहुरूपिया राजा को नमस्कार करके चला गया। कुछ दिनों के बाद उसने एक दूसरा स्वांग बनाया। इस बार उसने सती का स्वांग बनाया। वह सती का रूप धारण करके बाजार में से होकर श्मशान तक पहुंचा। वहां उसने एक चिता जलाई और अपने स्वामी को उस पर स्थापित करके अपने आप को अग्निदेव को समर्पित करने के लिए तैयार हो गया। उसकी इस नाटक को देखने के लिए सारा नगर उमड़ पड़ा था। राजा भी वहां जा पहुंचा और देखते ही पहचान गया। उसने सोचा, कितने सुन्दर ढंग से यह अभिनय कर रहा है।

मगर जब बहुरूपिया सचमुच ही चिता में प्रवेश करने को उद्यत दिखाई दिया तो राजा ने आगे बढ़कर उसे रोका और पकड़ा। तब वह बोला- नहीं महाराज, मैंने स्वांग किया है, उसे पूरा होने दीजिए। मेरे चिता प्रवेश के बिना स्वांग अधूरा ही रह जाएगा।

आज मेरा स्वांग असली रूप धारण करेगा। साधु का स्वांग किया था तो आप के द्वारा दी जाने वाली स्वर्णमुद्राओं का मैंने स्पर्श तक नहीं किया। आज सती का स्वांग किया है तो उसे भी पूरा ही करूंगा। उस दिन धन की चाह नहीं की तो आज जीवन की चाह कैसे कर सकता हूँ ?

इस प्रकार राजा के रोकने पर भी बहुरूपिया ने चिता में प्रवेश करके प्राणों का अन्त कर दिया।

यह एक नजीर आपके सामने पेश की गई है। इस का अभिप्राय क्या है ? बहुरूपिया ने क्यों अपना प्राण समर्पण कर दिया ? उसने स्वांग किया था और स्वांग में भी सच्चा मनोयोग और अनुकरण चाहिए। तभी स्वांग पूरा उतरता है। कहावत प्रसिद्ध है—नकल में भी अकल चाहिए।

तो अगर आप सुबाहु की, राजा प्रदेशी की या भूतकाल में हुए बड़े-बड़े भक्तों की जगह बैठते हैं, उनका अनुकरण करते हैं, उनके ध्यान की नकल करते हैं तो कम से कम उतने समय तक तो पूरा अनुकरण कीजिए, जितने समय तक उस आसन पर आसीन हैं। अगर उसी तेजस्विता के साथ भीतरी और बाहरी नकल करेंगे तो अवश्य ही कुछ प्राप्त कर सकेंगे। किन्तु यदि बराबर नकल भी न कर पाये, तब बात दूसरी होगी।

तो कवि कहते हैं—मैं तीन बातों का ख्याल रखकर शिवसुख के लिए प्रार्थना करूंगा—तन और मन को प्रार्थना में जोड़ दूंगा और रसना मेरी आपके गुणगान में जुटी रहेगी। इसका परिणाम क्या होगा ?

'इण विधि भवसागर तिरसूं'

इस प्रकार प्रार्थना करके मैं भवसागर को पार करूंगा और जन्म-मरण के चिरकालीन चक्र की समाप्ति कर दूंगा।

कविराज विनयचन्द्र जी भी प्रार्थी थे और आप भी प्रार्थी हैं। उन्होंने प्रार्थना करके अपने अन्तःकरण को परमात्मा के साथ संजोया था। अगर आप उनकी चाल पर चलेंगे, उनके शब्दों को दिल और दिमाग में रमा कर यथोचित पद्धति से साधना के मार्ग में प्रवृत्त होंगे तो निस्सन्देह आपको आत्मिक ज्योति प्राप्त हो जाएगी। आपका मनोबल उग्र बनेगा, शक्ति का विकास होगा और विकार क्षीण होते चले जाएंगे। इस प्रकार एक दिन आएगा कि आप प्रार्थी से स्वयं प्रार्थनीय बन जाएंगे।

उक्त प्रकार से जो प्रार्थना करता है वह भक्त से भगवान् बन जाता है, नर से नारायण बन जाता है, आज जो भव-मार्ग का राही है वह शिव-मार्ग का अधिकारी बन जाता है। अतएव अगर आपको भाव-अरिहन्त का पद प्राप्त करना है तो भाव अरिहन्त को अपनी प्रार्थना का लक्ष्य बनाकर उज्ज्वल भाव से प्रार्थना कीजिए। ऐसी प्रार्थना करेंगे तो आप सिद्ध, बुद्ध एवं विशुद्ध बन कर वह आत्मिक पूर्णता प्राप्त कर लेंगे, जिसके लिए आप प्रार्थना कर रहे हैं।

लाल भवन
जयपुर
११-३-६०

निर्बल के बल राम



प्रात ऊठ श्रीशान्ति जिनंद को, सुमिरण कीजे घड़ी-घड़ी ।
संकट कोटि कटे भवसंचित, जो ध्यावे मन भावधरी ॥

यह श्रीशान्तिनाथ भगवान् की प्रार्थना है। मालूम पड़ता है कि प्रभु की स्तुति या प्रार्थना की गई है, मगर प्रार्थना के शब्दों पर यदि सावधानी के साथ विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि कवि ने भगवान् के चरणों में निवेदन करने की अपेक्षा अपने से ही निवेदन करने की बात अधिक व्यक्त की है। भक्त प्रारंभ में अपने से ही कह रहा है- ऐ चेतन! जिस प्रकार तू रात-दिन विषयों और कषायों के जंजाल में फँसा रहता है, उसी प्रकार

यदि प्रातः काल उठकर, निष्ठा के साथ, शान्तिनाथ का स्मरण करे तो तेरी अन्तरात्मा में एक अपूर्व ज्योति जागृत हो जाए।

बड़ी श्रद्धा और निश्चय के साथ यह प्रेरणा की गई है। यह एक सिद्धान्तसम्मत सत्य है कि प्रार्थी, प्रार्थी तब बनता है, व्रती, व्रती तभी कहलाता है, साधक, साधक का पद तभी प्राप्त कर सकता है, और भगवान् के चरणों में उसकी आवाज़ तभी पहुंच सकती है, जब अन्तःकरण के शल्य और विकार दूर हो जाते हैं अतएव यह भी सत्य है कि वाचिक प्रार्थना की वाणी उतना काम नहीं करती, जितना काम अन्तःकरण की ध्वनि करती है। एक मनुष्य जिह्वा से कितना ही बल लगाकर कितने ही जोर से-शब्दों का उच्चारण क्यों न करे, परन्तु उसके अन्तःकरण की पुकार यदि उसके साथ नहीं है, हृदय का सामंजस्य उसमें नहीं है, तो वह उच्चारण क्षमतापूर्ण- सबल नहीं होगा। इसके विपरीत, दूसरा व्यक्ति कितने ही मंद स्वर से प्रार्थना क्यों न कर रहा हो, यहां तक कि उसका समीपस्थ साथी भी न सुन पाता हो, फिर भी यदि वह ध्वनि हृदय से उद्गत हो रही है तो उसकी प्रार्थना की शक्ति अद्भुत होगी। उसकी प्रार्थना में इतना बल होगा कि वह बड़े-बड़े स्वर्ण सिंहासनों को और इन्द्रासनों को भी हिला देगी।

इस प्रकार अन्तरतर से प्रार्थना करने वाला अपने आपको भगवद्भक्ति के सुधा-सरोवर में लीन कर लेगा और लीन होने के अनन्तर उसके शोक, संताप, दुःख, अज्ञान और अशान्ति इस प्रकार विलीन हो जाएँगे जैसे समुद्र में फेंका हुआ छोटा-सा कंकर। समुद्र में फेंका हुआ कंकर न जाने किधर गायब हो जाता है। आप उस छोटे से कंकर को समुद्र में डाल कर दूसरे ही क्षण खोजने का प्रयत्न करेंगे तो वह नहीं मिलेगा। इसी प्रकार जब भक्त परमात्मा के साथ तन्मय एवं तच्चित्त हो कर, अन्तःकरण

के तार से परमात्मा के साथ आबद्ध होकर, मधुर-मधुर और मंद-मंद शब्दों में प्रार्थना करता है, तब आर्त्त रौद्र चिन्तन, राग-द्वेष के विकार एवं कलुषित संकल्प इस प्रकार गायब हो जाते हैं कि उनका कहीं पता तक नहीं चलता। उस समय भक्त की अपूर्व मनः- स्थिति होती है। कोई आकर शोक की बात कह दे, अहंकार बढ़ाने वाली प्रशंसा कर दे, विषयविकारवर्धक बात कहे तो वे शब्द उसके कान में पड़कर भी उसी प्रकार गायब हो जाते हैं जैसे सागर में फेंका हुआ कंकर। वे शब्द सुने भी अनसुने हो जाते हैं।

तत्वार्थसूत्र में वाचक प्रवर उमास्वामि कहते हैं-

निःशल्यो व्रती।

अर्थात्-जो शल्य को दूर कर देता है, वही व्रती होता है। शल्य तीन हैं- माया, मिथ्यादर्शन और निदान। इन्हें दूर किये विना व्रती का पद प्राप्त नहीं हो सकता।

शल्य का अर्थ है कांटा। पर्दे को भी शल्य कहते हैं। कपड़े में सलवट पड़े हैं और कोई आदमी उन्हें हटाये विना ही यदि उस पर साबुन फेर देता है और कपड़ा धो डालता है तो क्या वस्त्र पूरी तरह साफ होगा? जहां सलवट थे, वहां सफाई हो सकेगी? जब आप उस कपड़े को फैलाकर देखेंगे तो पता चलेगा कि उसमें कुछ लकीरें बनी रह गई हैं। वे लकीरें क्या हैं? वे बतला रही हैं कि इस जगह मैल रह गया है।

दिल की भी यही स्थिति है भक्ति की भावना से और ज्ञान-गंगा के निर्मल नीर से प्रार्थना आत्मा की मलीनता को दूर करने के लिए है। किन्तु यदि शल्य रह गया है, पर्दा रह गया है, कहीं

किसी प्रकार का कपटभाव बना रह गया है, तो वह आत्मा पूर्ण रूप से शुद्ध होने में समर्थ नहीं होगी। इसलिए कहा गया है कि–ऐ साधक ! तू अपने मन में माया का, निदान–लौकिक कामना–का या मिथ्यात्व का पर्दा लेकर अगर साधना करेगा, तेरी प्रार्थना यदि ऐसी होगी तो तू ठीक तरह आत्मशुद्धि करने में सफल नहीं हो सकेगा और यदि इन शल्यों को निकाल कर, शब्दों के बल के साथ, दिल की ताकत को भी जोड़ देगा तो तेरी पहली सफलता यह होगी कि तू जिस आत्मशुद्धि एवं आत्मकल्याण के उद्देश्य से चल रहा है, वह प्राप्त हो जाएगी। साथ ही परिस्थितियों के कारण या दुर्भाग्य से तू जो दुखानुभव कर रहा है, कटुता को महसूस कर रहा है, उससे भी छुटकारा पा लेगा।

शास्त्रों में ऐसे प्रार्थियों के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं, मगर उनकी प्रार्थना के रूप भिन्न-भिन्न होते हैं। एक सौ-पचास के बीच में आवाज लगाता हुआ प्रार्थना कर रहा है तो दूसरा मौनभाव से कर रहा है।

मौनप्रार्थना करने का रूप कदाचित् हमारी निगाहों के सामने न आवे, हम न समझ सकें कि यह प्रार्थना चल रही है। उसे हम मानसिक प्रार्थना कह सकते हैं और आवाज वाली प्रार्थना को वाचिका प्रार्थना की संज्ञा दी जा सकती है। इसमें कोई वैयक्तिक और कोई सामूहिक प्रार्थना होती है। अभी हमने सामूहिक प्रार्थना की है। एक व्यक्ति यदि एकान्त में बैठ कर प्रभुस्तुति करता है तो वह वैयक्तिक प्रार्थना होगी। सामूहिक प्रार्थना में भी कभी–बिना बोले ध्यान किया जाता है, जैसे लोगस्स का ध्यान, वह है मानसिक प्रार्थना। सामूहिक होने पर भी वह वाचिक नहीं कहलाएगी। फिर भी हैं तो दोनों प्रार्थनाएं ही।

इस प्रकार प्रार्थना के अनेक रूप हैं। प्रार्थी किसी भी रूप को अंगीकार करे, ध्यान में रखने की बात यही है कि उसकी आवाज हृदय को स्पर्श किये बिना न निकले। अगर साधक यह सावधानी रखकर प्रार्थना करेगा तो उसे ऐसे आनन्द का अनुभव होगा जिसे हम अनिर्वचनीय आनन्द कहते हैं।

ज्ञानियों का कथन है कि विषय, कषाय, आरंभ, परिग्रह आदि में दिल को अछूता रख कर चलो और आध्यात्मिक कार्यों में दिल को रंग कर चलो। परन्तु दुनिया उलटी चलती है। लोग धर्मस्थान में जाएंगे, प्रार्थना का पाठ पढ़ेंगे, मगर जीभ से। हृदय उनका कहीं अन्यत्र ही होगा। आप गद्दी पर बैठे हों, दुकान पर बैठे हों, माल देने-लेने के लिए बैठे हों, सहसा कोई सन्त नजर आए तो शिष्टाचार के नाते हाथ थोड़ा ऊंचा कर देंगे, पर दिल आपका कहां है? कदाचित् खड़े भी हो जाएंगे, फिर भी दिल तो व्यापार के रंग में रंगा रहेगा।

तो भगवान् कहते हैं— तुझे सम्यक्त्व का जो प्रकाश मिला है, उसका रूप क्या है? दूसरे लोग, जो मिथ्यादृष्टि हैं, वे भी खाते हैं, पीते हैं, पहनते हैं, राग-रंग करते हैं, तो तेरे और उनके खाने, पीने, पहनने और राग-रंग करने में क्या अन्तर है? वे दिल से रंग कर यह सब काम करते हैं और यदि तू भी इनमें हृदय से अनुरक्त है तो दोनों में अन्तर ही क्या रहा? फिर सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि में क्या पार्थक्य है?

श्रेणिक राजा था, उदायन भी राजा था। दोनों महावीर के भक्त थे। उदायन बारह व्रतों का धारक श्रावक था। वह राज्य का कारबार करता था। कितने ही मेले-ठेले आदि के प्रसंगों पर, कितने ही प्रकार के राग-रंग भी करता था। यह सब करते हुए

भी उसमें एक खूबी थी। वह दिल में बेरंग था। तन पर है रंग और दिल में है बेरंग। इसके विपरीत, आज के आदमी के तन पर तो है रंग और मन में है वह बेरंग! जो बाहर से बेरंग-विरक्त है और भीतर से रंगा हुआ-अनुरक्त है, वह कर्मबन्ध में और आत्मा को भारी बनाने के ढंग में अधिक से अधिक लिप्त होता जाएगा।

प्रभु ने कहा—देखो, प्रार्थना ध्यान चिन्तन या वीतरागवाणी का श्रवण, ये सब उत्तम साधन हैं। इनमें एक बात अनिवार्य रूप से ध्यान में रहनी चाहिए। यह आवश्यक नहीं कि आपके शब्दों में संगीत का माधुर्य हो, परन्तु यह आवश्यक है कि उन शब्दों के रंग में आपका दिल रंग कर साथ चले। अगर साधना के साथ हृदय होगा तो पतित से पतित जीवात्मा भी अपने कर्मों को, फिर वे कितने ही जन्मों के संचित क्यों न हों, और कितने ही प्रगाढ़ क्यों न हों, क्षय करके पूर्ण शान्ति और पूर्ण आनन्द का लाभ कर सकेगा। निश्चय ही उसका वह अधिकार बन जाएगा। इसमें संशय के लिए अवकाश नहीं, अपवाद की गुंजाइश नहीं। अगर इन्सान ने वीतराग के चरणों में अपना अन्तःकरण अर्पित कर दिया है और हृदय से कपट के पर्दे को दूर कर दिया है, निदान शल्य को हटा दिया है, मिथ्यात्व शल्य का उन्मूलन कर दिया है और जीवनगत विकारों से छुटकारा पा लिया है तो विश्व की कोई भी शक्ति उसे शान्तिलाभ से वंचित नहीं कर सकती।

महाराज श्रेणिक का जीवन एक उदाहरण है। उदायन के जीवन चरित्र भी आपके सामने है। महात्मा अनाथी जी, जो इनके समकालीन ही थे, जीवन चरित्र भी आपके सामने है। शरीर की आर्त्ति उनकी प्रार्थना में हेतु बन जाती है। अनाथी

मुनि के माता-पिता ने भरसक प्रयत्न किया कि उनका बेटा नीरोग हो जाए। भाई-बंदों ने भी कोई कसर न रहने दी। उनकी भी यही कामना थी कि हमारा भाई चंगा हो जाए। चिकित्सकों ने सोचा यह सेठ का प्रिय पुत्र है और सेठ मुक्तहस्त होकर द्रव्य खर्च करने को तैयार है, फिर भी यह स्वस्थ नहीं हुआ तो हमारे विज्ञान पर से जनता की श्रद्धा उठ जाएगी। हमारी अप्रतिष्ठा होगी और मिहनत बेकार हो जाएगी। ऐसा सोच कर उन्होंने भी अपनी सारी शक्ति लगा दी। राजा श्रेणिक के सामने अपना परिचय देते हुए स्वयं अनाथी मुनि कहते हैं—

उवट्ठिया मे आयरिया, विज्जामंत तिगिच्छगा।
अबीया सत्थकुसला, मन्तमूलविसारया॥
ते मे तिगिच्छं कुव्वंति, चाउप्पायं जहाहियं।
न य दुक्खा विमोयंति, एसा मज्झ अणाहया॥

—उत्तराध्ययन, अ. २०. गा. २२-२३।

मुनि राजा से कहते हैं- राजन्! ऐसा मत समझना कि मुझे कोई वैद्य नहीं मिला था। मेरे पिता इतनी विपुल सम्पत्ति के धनी थे कि अम्बाड़ी सहित हाथी को भी सुवर्ण से ढँक सकते थे, हीरों और पन्नों से ढँक सकते थे। अतएव मेरी चिकित्सा के लिए आयुर्वेद के बड़े-बड़े विद्याविशारद और मंत्रविशारद आचार्य बुलाये गये। वे आचार्य ऐसे थे जिनके मुकाबले में कोई ठहर नहीं सकता था। उन्होंने हर तरह से, जी-जान लड़ा कर मेरी चिकित्सा की। मगर वे भी मुझे वेदना से बचाने में समर्थ न हो सके। राजन्! यही मेरी अनाथता है।

अनाथी मुनि ने सोचा-शायद श्रेणिक सोचते हों कि पत्नी के अभाव के कारण मैं दीक्षित हो गया हूँ, अतः वे बोले-

भारिया मे महाराय, अणुरत्ता अणुव्वया ।
अंसुपुण्णेहिं नयणेहिं, उरं मे परिसिंचइ ॥
अन्नं पाणं च ण्हाणं च, गंधमल्लविलेवणं ।
मए नायमनायं वा, सा बाला नेव भुंजइ ॥
खणं पि मे महाराय, पासाओ मे न फिट्टइ ।
न य दुक्खा विमोएइ, एसा मज्झ अणाहया ॥
उत्तराध्ययन, अ. २०, गा. २८-२९-३० ।

मुनि कहते हैं–महाराज ! मेरी पत्नी मुझ पर अनुरक्त थी और मेरी अनुगामिनी थी । जब मेरा समग्र शरीर भीषण सन्ताप से जल रहा था, तब वह अपने आंसुओं से मेरे वक्षस्थल को सींचती थी । उसने खाना, पीना, नहाना आदि छोड़ दिया था और क्षण भर के लिए भी मेरे पास से नहीं हटती थी । फिर भी महाराज, वह मुझे वेदना से न बचा सकी । यह मेरी अनाथता है ।

इस प्रकार किसी भी ओर से कुछ भी कसर नहीं रक्खी गई । फिर भी मुझे निराश होना पड़ा । मैं तन को, धन को स्वजन-परिजन को अपना बल समझे बैठे था, यह मेरा भ्रम दूर हो गया । मैं समझ गया कि यह सब मेरे बल नहीं हैं । पराधीन हैं । अनाथी मुनि का यह भाव वैदिक परम्परा में इन शब्दों में व्यक्त हुआ है–

सुने री मैंने निर्बल के बल राम ।

यहां निर्बल का मतलब बाह्य बलों का न होना है । बल दो प्रकार के हैं– भौतिक बल और आध्यात्मिक बल । तन का बल,

धन का बल, परिवार का बल, सत्ता का बल, सेना का बल, कुर्सी का बल, ये सब भौतिक बल हैं। भौतिक बल बहिरात्मा जीवों को बहुत प्रिय है और वे इसी पर भरोसा करते हैं। साधारणतया सभी संसारी लोग इस बल को प्राप्त करने के लिए दिन-रात संलग्न रहते हैं और पचते रहते हैं। मगर यह बल परीक्षा के समय कितना कमजोर साबित होता है, यह बात आप सभी को भली भांति विदित है। अनाथी मुनि को अपने जीवन में ज्वलंत अनुभव हुआ था, वह ऐसा दुर्लभ नहीं है कि आपमें से किसी को न हो। सभी को वैसा अनुभव होता है। अन्तर इतना ही है कि उस अनुभव से उन्होंने लाभ उठाया और आप नहीं उठा रहे हैं। उन्होंने अपनी आत्मा को जागृत कर लिया मगर आपकी आत्मा में ऐसी घनीभूत जड़ता व्यापी हुई है कि वह बार-बार के ऐसे अनुभवों से भी नष्ट नहीं होती है।

आध्यात्मिक बल आत्मा का बल है, भागवतबल है, और वही सच्चा बल है। वह भौतिक बल के समान धोखा देने वाला नहीं है। वह संकट काल में किनारा काट कर उपहास कराने वाला बल नहीं है। वह अगर है तो सर्वत्र सर्वदा काम आता है। फिर भी आपकी दिलचस्पी उसमें नहीं है। आप ज्ञानबल के बजाय धन बल को ही अधिक महत्व देते हैं और आपका आचरण इसका साक्षी है। मगर याद रखिए, अनाथी मुनि कहते हैं— संसार के सारे बल आजमा लिए पर कोई काम नहीं आया। भौतिक बलों के होने पर भी मुझे यही अनुभव हुआ कि मैं निर्बल हूं। तब मुझे स्मरण आया—

सुने री मैंने निर्बल के बल राम।

जब तक भौतिक बल काम आता है तब तक अध्यात्मबल

याद नहीं आता। कोई सेठ मोटर में बैठा जा रहा हो और सहसा कोई दुर्घटना हो जाय तो वह तिजोरी को याद करेगा या त्रिलोकीनाथ को ?

कल्पना कीजिए, अग्निकाण्ड हो गया है। चहुं ओर आग की ज्वालाएं पिशाचनियों की तरह भीषण ताण्डवनृत्य कर रही हैं, बचाव का कोई उपाय नहीं है, और देख लिया कि यहां तिजोरी का धन काम में आने वाला नहीं है, हुकूमत को ताकत काम नहीं दे सकती, कुटुम्ब-परिवार आदि कुछ सहायता नहीं पहुंचा सकते, किसी भी ओर से कोई मदद मिलने की संभावना नहीं है, ऐसे विकट संकट के अवसर पर दिल की पुकार किन चरणों में पहुंचती है ? भगवान् के चरणों में ? तो यही ठीक है-

सुने री मैंने निर्बल के बल राम।

राम का बल परमात्मा का बल है। उतनी दूर न जाकर नज़दीक आ जाएं और समझें कि राम का बल आत्मा का बल है। जिसके पास आत्मबल है, उसके पास परमात्मबल है। जिसके आत्मबल का दिवाला निकल चुका है, उसे परमात्मबल भी प्राप्त नहीं होगा।

आत्मबल का दिवाला निकलने का अर्थ क्या है ? जरा इच्छा के विरुद्ध कोई घटना हुई कि क्रोध से तमतमा उठे। क्रोध को काबू में रखने की शक्ति नहीं है। लालच का कोई प्रसंग आया कि मन फिसल गया ! विषयों का सान्निध्य हुआ कि इन्द्रियां बिना लगाम के घोड़े की तरह उधर ही दौड़ पड़ीं। यह सब आत्मबल के अभाव के नमूने हैं, आत्मबल न होने से दुनियवी चीजें आत्मा को आकुल-व्याकुल और क्षुब्ध करती रहती हैं। मगर जिसे आत्मबल प्राप्त है, वह सदा शान्त, अडोल और अकम्प रहता

है। संसार की कोई पौद्गलिक वस्तु या कोई घटना उसके चित्त को समाधि को भंग नहीं कर सकती।

राम के पास क्या था? रावण के पास क्या था? दुनिया का बल रावण के पास अधिक था, फिर भी वह पराजित हुआ। राम के पास आत्मबल था तो वे विजयी हुए।

जब राम अयोध्या के राजभवन से निकले तो उनके पास क्या था? वह कितनी सम्पदा और कितनी सेना लेकर निकले थे? उनके साथ न सेना थी, न सम्पदा थी। मगर कौन सी चीज उनके पास न आई? सेना की आवश्यकता होने पर क्या सेना की कमी रही? खाने-पीने की कमी रही? वन में जहां गये, कुटिया मिल गई। जिसके द्वार के सामने से निकले, उसी ने खातिरी की। सर्वत्र उनका सत्कार-सम्मान हुआ। ऐसा क्यों हुआ? इसीलिए कि उनके पास अन्दर का बल था। बाहर का बल नहीं था, फिर भी उसकी कमी उन्हें नहीं अखरी। उन्हें किसी प्रकार की कमी नहीं रही।

रावण के पास बाहर का अपरिमित बल था, मगर अन्दर का बल नहीं था। उसने अन्दर का बल खो दिया था। अतएव वह अपने भाइयों की मदद लेने जाता है, सैनिकों की मदद लेना चाहता है, मगर वह मदद भी उससे मुंह मोड़ लेती है। वह अपनी जिन विद्याओं पर भरोसा करता था और सोचता था कि इन विद्याओं के बल से राम को पराजित कर दूंगा और लक्ष्मण का काम तमाम कर दूंगा, वे हजार विद्याएं भी राम के आत्मबल के सामने कुंठित हो गई। उन्होंने भी साथ नहीं दिया।

ये सब उदाहरण इस बात के ज्वलन्त प्रमाण हैं कि नैतिक

बल जहां 'फेल' हो जाता है, वहां आत्मिकबल ही कामयाब होता है और जहां आत्मा का बल है वहां परमात्मा का बल है और जहां आत्मा का बल नहीं, वहां परमात्मा का भी बल नहीं है। इसीलिए हमने कहा—

सुने री मैंने निर्बल के बल राम।
जब लग गजबल अपणो बर्त्यो, नेक सर्यो नहीं काम।

महात्मा अनाथी ने सभी भौतिक बलों को आजमाने के बाद कहा—मैंने सांसारिक बलों के खोखलेपन को समझ लिया। मैंने जान लिया कि ये बल किस प्रकार बेकार साबित होते हैं। तब मैंने माता, पिता, बन्धु-बान्धव, पत्नी, चिकित्सक आदि के बल की आशा त्यागकर अपने आपको परमप्रभु के पादपद्मों में अर्पित करके कहा—'भगवन्! यदि मैं इस वेदना से मुक्त हो जाऊं तो समस्त आरम्भ-परिग्रह, घर-द्वार और विषय-कषाय को त्याग कर तुम्हारे चरणों का आश्रय ले लूं—शान्त, दान्त, निरारम्भ एवं जितेन्द्रिय साधु बन जाऊं।'

इस प्रकार के चिन्तन के बाद क्या चमत्कार उत्पन्न होता है, यही वे कहते हैं—

एवं च चिन्तइत्ताणं, पसुत्तो मि नराहिवा।
परियत्तन्तीए राईए, वेयणा मे खयं गया॥
—उत्तराध्ययन, अ. २०, गा॰ ३३।

हे राजन्! इस प्रकार विचार करके मैं सो गया और जब रात बीती तो मैंने अनुभव किया—अंग-अंग में जो तीव्र पीड़ा हो रही थी, वह विलीन हो गई है, मानो, कोई पीड़ा थी ही नहीं।

मैं पहले ही कह चुका हूँ कि जैसे समुद्र में डाला हुआ कंकर दूसरे ही क्षण अदृश्य हो जाता है, उसी प्रकार जब परमात्मा की स्तुति, चिन्तन और ध्यान में मन विलीन हो जाता है, और जब संसार के समस्त जंजालों से पृथक होकर तन्मय बन जाता है तो समस्त शोक, सन्ताप एवं आधिव्याधियां गायब हो जाती हैं।

इस प्रकार भौतिक बल को त्याग कर अनाथी मुनि ने जब अपनी भावना का बल बढ़ाया, तब उनकी वेदना क्षण भर में ही विनिष्ट हो गई। यह विस्मय जनक परिवर्तन इस कारण संभव हो सका, क्योंकि उनकी आत्मा निःशल्य हो गई थी। उन्होंने अपने आपको सम्पूर्णरूप से परमात्मा के चरणों में समर्पित कर दिया था। यहां बोली गई प्रार्थना की तरह ऊँची आवाज तो उन्होंने नहीं लगाई होगी, उनके पार्श्व में स्थित पत्नी भी संभवतः उसे सुन न सकी होगी, मगर उस प्रार्थना के साथ मनोबल इतना तीव्र था कि वह परमात्मा तक पहुंच सकी—उनकी निज की अन्तरात्मा को स्पर्श कर सकी। परिणाम यह हुआ कि उन्होंने अपने को पार लगा लिया। वे मोह—माया—ममता से रहित हो गए।

अभिप्राय यह है कि साधक अपने जीवन में जब सही तौर पर प्रार्थी के रूप में आता है तो उसे 'निःशल्यो व्रती' इस सूत्र-वाक्य को सामने रखकर कपट, कामना और मिथ्यात्व को दूर करके ही आना चाहिए। वह संसार में रह कर खान—पान आदि बाह्य क्रियाएं करता हुआ भी उनमें अनुरक्त नहीं होगा, अलिप्त ही रहेगा। उसका हृदय परमात्मा के साथ ही जुड़ा रहेगा। तन से कुछ भी करता हुआ वह साधक मन से परमात्मा के ही रंग में रंगा रहेगा उसकी हृदय तंत्री में परमात्मा का गान ही गूंजता रहेगा अन्तर्दृष्टि से परमात्मा का निर्मल एवं उज्ज्वल

स्वरूप कभी ओझल नहीं होगा। फल यह होगा कि उसका अज्ञान दूर होगा, मलीनता दूर होगी और जो परिस्थिति आज विपादजनक प्रतीत होती है, वही सुख-सन्तोपजनक प्रतीत होने लगेगी।

दुःख का मूल अज्ञान है व मोह है। अज्ञान और मोह के हटते ही दुःख दूर हो जाता है। अतएव पूज्य श्री रत्नचन्द्रजी म. ने आत्मा से प्रार्थना करते हुए कहा-

गये विलाय भरम के वादल,

परमातम पद पवन करी।

हे आत्मन्! अगर तू शान्तिनाथ भगवान् के चरणों में लीन हो जाएगा तो भ्रम के वादल विलीन हो जाएंगे। आत्मा इस समय भ्रम में पड़ा है। समझता है-ये मेरे दुश्मन हैं, मुझे हानि पहुंचा रहे हैं। भगवान् के चरण ग्रहण करते ही यह मिथ्यामति दूर हो जाती है और ऐसा प्रतीत होने लगता है कि-ये शत्रु जान पड़ने वाले वास्तव में मेरे मित्र हैं, ये मुझे हानि नहीं लाभ पहुंचा रहे हैं।

हमारे मनोगगन में विविध प्रकार के विभ्रम के अभ्र मंडराते रहते हैं। प्रार्थना करते हैं, स्तुति करते हैं, सत्संग भी करते हैं, तथापि मन वेरंग ही वना रहता है। उसका आकर्षण दूसरी ओर ही रहता है। वह दूसरे ही रंग में रंगा रहता है।

अपने मन की चौकसी करके देखो तो पता चलेगा। गर्दन आपकी मेरी ओर हिलती है, पर मन न जाने कहां-कहां भटक रहा होगा

आसका । महाराज जल्दी वक्तव्य समाप्त कर दें तो अच्छा ! वहाँ जाना है, अमुक जगह खेल हो रहा है, उसे देखने जाना है ! अमुक से अमुक लेना है ! इस प्रकार के न जाने कितने विचार दिमाग में चक्कर काट रहे होंगे, यही दिल का दूसरे रंग में रंगना कहलाता है।

अगर आप इस प्रकार के विचारों को नयी दिशा में मोड़ दें तो ? आपका कल्याण हो जाय। हम अभी आपका कारोबार छुड़ाने नहीं आए हैं, आपको साधु बनने के लिए नहीं कह रहे हैं, इतना ही कह रहे हैं कि अगर आप बाहर से पूर्ण त्याग नहीं कर सकते तो कम से कम दिल को उस रंग में मत रंगने दो। यार जो संसार-कृत्य करते हैं, उसे आसक्ति की भावना से न करें, उसे लाचारी समझें।

आप कह सकते हैं—तीर्थंकरों ने भी गृहस्थावस्था में शादी-विवाह किया था, नेमिनाथ ने फाग भी खेली थी। फिर आप क्यों उसका विरोध करते हैं ? क्यों त्याग करवाते हैं ? मगर यह भी सोचो कि उनके फाग खेलने और आपके फाग खेलने में क्या अन्तर है ? नेमिनाथ के मन पर उसका क्या परिणाम हुआ था और आपके मन पर क्या परिणाम हो रहा है ? नेमिनाथ शरीर से रंग कर भी अन्तर् से बेरंग थे। आपने इस कला का विकास हुआ है ? इतनी परिपक्व मनोबल आपमें है ? नहीं, तो नेमिनाथ का नाम न लाजिए। आप भी इतना मनोबल प्राप्त कीजिए कि लोकाचार के अनुरोध से कदाचित् शरीर से रंगना पड़े तो भी मन पर रंग न चढ़े। अगर मन को रंग लिया तो जीवनपर्यन्त उस रंग का जाना कठिन है। केवल शरीर ही रंगेगा तो वह कालिख स्थायी नहीं होगी।

इस प्रकार प्रार्थना के वास्तविक तत्त्व को लेकर, विषय-कषाय की मलीनता को धोकर और चित्त को निर्मल बना कर अगर परमात्मा का स्मरण करेंगे तो आपको परम शान्ति और परम आनन्द की प्राप्ति होगी।

लाल भवन
जयपुर
१४-३-५०

अन्तःकरण के आइने को मांजो

•

अभी शांतिनाथ भगवान् की प्रार्थना की गई है। वीतराग प्रभु की प्रार्थना में कितनी महिमा निहित है और वह भक्त के जीवन में कितना लाभ उत्पन्न कर सकती है, इस विचार की जितनी गहराई में आप जाएँगे, उतनी ही नवीन वस्तु आपको प्राप्त होगी। वीतराग परमात्मा के चरणों में जो प्रार्थना की जाती है, उनके स्वरूप का चिन्तन और महिमागान किया जाता है, वह अपने ही प्रकाश और अपनी ही ज्योति को प्रकट करने के लिए है। जब आत्मा की ज्योति चमक उठती है और आन्तरिक तिमिर दूर हो जाता है, तब बाहर की जितनी भी आधि व्याधि और उपाधियां प्रतीत होती हैं और जीवन में उनके अनुभव की जो कटुता होती है, वह सब नष्ट हो जाती है।

वस्तुओं का स्वभाव निराला-निराला है। एक कमल चन्द्रविकासी होता है और दूसरा सूर्यविकासी। सूर्यविकासी कमल सूर्य से बहुत दूर होता है। कमल भूमि पर और सूर्य बहुत ऊपर आसमान में रहता है, फिर भी जब सूर्य की किरणें फैलती हैं और कमल की पंखुड़ियों को स्पर्श करती हैं, तत्काल कमल खिल उठता है। बगीचे में आपने उन फूलों को भी देखा होगा जो सूर्य के घूमने पर घूम जाते हैं। उन्हें लोग सूरजमुखी कहते हैं। सूर्य पूर्व में है तो उनका मुख पूर्व में और सूर्य यदि पश्चिम में है तो उनका मुख भी पश्चिम में हो जाता है।

प्रश्न है, ऐसा क्यों होता है? फूल में मानव की तरह बुद्धि नहीं है। उसमें स्पष्ट चेतना नहीं है। फिर भी उसे दिग्भ्रम नहीं होता है और वह इस प्रकार घूम जाता है जैसे किसी ने पकड़ कर घुमा दिया हो। तो बुद्धि और विवेक से विकल फूल सूर्य की किरणों से इतनी प्रगाढ़ प्रीति रखता है। चाहे किरणें तीव्र हों या मंद, वर्षा काल हो या शीतकाल, उसकी इस प्रीति में अन्तर नहीं पड़ता। कविवर विनयचन्द जी ने कहा है—

ज्यों पंकज सूरजमुखी जी, विकसे सूर्य प्रकाश।

जब विवेक-बुद्धि से विहीन फूल सूर्य की किरणों से इतनी प्रीति निभाता है, तब भक्त साधक को, जो चिन्तन-मनन की शक्ति से सम्पन्न है, विशिष्ट बुद्धि का धनी है उसे परमात्मा के के प्रति कितनी प्रीति निभानी चाहिए? प्रार्थना के माध्यम से परमात्मस्वरूप की किरणें जब उसके मन को स्पर्श करती हैं, तब भक्त को परमात्मा की ओर उन्मुख नहीं होना चाहिए? सूर्य और सूरजमुखी का फूल सजातीय नहीं है, मगर आत्मा और परमात्मा तो सजातीय हैं। सजातीय के प्रति स्वभावतः प्रीति

आकर्षण पाया जाता है। वर्षाकाल में पानी को देखिए उसे इधर-उधर कहीं भी उंडेलो, कहीं भी बहाओ, वह विश्राम वहीं लेगा जहां उसका सजातीय पानी होगा। वह सजातीय में मिल कर अपने को आत्मसात् कर देगा। अगर ऐसा न कर पाया तो भाप बन कर ऊपर उड़ जाएगा अथवा बादल के रूप में अपने को बदल देगा। वह अपने समान स्वभाव वाले को, अर्थात् सजातीय को ही खोजता रहता है।

आत्मा का सजातीय द्रव्य परमात्मा है। अतएव जब विचारशील मानव संसार के सुरम्य से सुरम्य पदार्थों में और सुन्दर एवं मूल्यवान् वैभव में शान्ति खोजते-खोजते निराश हो जाता है, तब उनसे विमुख होकर नितरते-नितरते पानी की तरह परमात्म स्वभाव में लीन होता है। वहीं उसे शान्ति और विश्रान्ति मिलती है।

जब फूल में सूर्य की किरणें पाकर विकसित होने का जातीय स्वभाव है तो जो साधारण आत्मा है वह परमात्मा के स्वरूप का चिन्तन और ध्यान तथा उनकी महिमा का कीर्तन करता हुआ विकसित हो, यह स्वाभाविक ही है। विकसित होने का अर्थ है—हर्षित होना और अविकसित होना कुंठित होना है। फूल की पंखुड़ियों का सिमट जाना उसका कुंठित होना है और मनुष्य का मुरझा जाना मनुष्य का कुंठित होना है।

परमात्म स्वरूप के चिन्तन की खूबी यह है कि जो आत्मा, अनन्त काल से अपने स्वरूप को न समझने के कारण जड़भाव में बह रहा है, उसमें जो कुंठितता आगई है, उसे जब परमात्मा के ध्यान से, चिन्तन से अपने वीतराग स्वरूप का खयाल आता है, तब उसकी सारी कुंठित दशा समाप्त हो जाती है। उसका मन

रूपी भ्रमर खिल उठता है और प्रसन्नमुद्रा से गुंजार करने लगता है। जैसे मालती के फूल पर भ्रमर गुंजार करता है, उसी प्रकार मन-मधुकर प्रार्थना के शब्दों में गूंजने लगता है।

मालती पुष्प पर भ्रमर गुंजन करता है, क्योंकि उसे उसके मकरन्द का आस्वादन प्रिय है, मगर आत्मा परमात्मा के स्वरूप का चिन्तन करने और प्रार्थना के शब्दों का उच्चारण करने के रूप में जो गुंजन करता है सो किस लिए ? उसे क्या लेना है ? इसका उत्तर यह है कि आत्मा परमात्मिक गुणों के मकरन्द का आस्वाद लेना चाहता है।

आत्मा अपूर्ण और परमात्मा पूर्ण है। जहां अपूर्णता है वहां प्यास है, खाइश है, प्रार्थना है। अपूर्ण को जहां पूर्णता दीखती है, वहीं वह जाता है और अपनी अपूर्णता को दूर करने का प्रयास करता है। वह सोचता है—मेरी अपूर्णता दूर हो, प्यास मिटे, मुझमें पूर्णता आ जाय।

आत्मा जड़भाव में भटक रहा है, मगर जब उसे सम्यग्ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है, तब वह दुनियां के पदार्थों को अपने लिए अनुपयुक्त और निस्सार समझकर उनसे विलग होने लगता है और परमात्मा के गुणों का मकरन्द ग्रहण करने के लिए लाला-यित हो उठता है। वह सोचता है—परमात्मा के अनन्त ज्ञान-दर्शन की जो लोकोत्तर ज्योति जगमगा रही है, वही मुझमें भी स्व-भावतः विद्यमान है, मगर वह मुरझाई हुई है, आवृत हो रही है। मैं उस ज्योति का स्मरण करूंगा, ध्यान करूंगा, चिन्तन करूंगा, प्रार्थना करूंगा और उसकी महिमा का गान करूंगा तो मेरी अन्तरात्मा में भी वह प्रज्वलित हो उठेगी। तब मैं भी परमज्योति परमात्मा का पद प्राप्त कर लूंगा।

प्रश्न हो सकता है कि परमात्मा की ज्योति के संसर्ग से आत्मा में किस प्रकार ज्योति जागृत हो सकेगी? पहले तो परमात्मा और आत्मा के बीच क्षेत्र की बहुत दूरी है, दूसरे परमात्मा कुछ करते नहीं हैं। ऐसी स्थिति में उनके चिन्तन-स्मरण से किस प्रकार आत्मा का विकास हो सकेगा? यह प्रश्न है।

इसका उत्तर सूर्यकान्त और चन्द्रकान्त मणियाँ देंगी। सूर्यकान्त और सूर्य में भी क्षेत्र का बहुत अन्तर है, फिर भी सूर्यकांत मणि को सूर्य के सामने रख दिया जाय और उसके नीचे रुई अथवा कपड़ा रख दिया जाय तो क्या रुई या कपड़े में आग प्रज्वलित नहीं हो उठती? जाने दीजिए सूर्यकान्त मणि को। साधारण काच ही की बात लीजिए। कई लोग इसका परीक्षण करते हैं। पांच दस मिनट तक सूर्य के प्रकाश के सामने काच को स्थिर रख दिया जाय तो उसके नीचे की रुई जल उठती है। कपड़ा हो तो वह भी जलने लगता है, पुराने जमाने में इसका काम लिया जाता था।

काच में रुई जलाने की ताकत कहाँ से आई? उसने वह ताकत सूर्य से प्राप्त की। सूर्य का प्रकाश और तेज दोनों उसे सूर्य से ही प्राप्त हुए। सूर्य का तो स्वभाव ही यह है। मगर जिसमें लेने की योग्यता है, वही उन्हें ले सकता है। काठ का खंभ और मिट्टी का कुम्भ उन्हें ग्रहण नहीं कर सकता। यद्यपि सूर्य कोई पक्षपात नहीं करता कि अपना तेज कृपा करके किसी को दे और अप्रसन्न होकर किसी को न दे। पर बात यह है कि काच ने अपने आपको बिल्कुल साफ कर लिया है, अर्थात् उसका बहिरंग और अंतरंग स्वच्छ है, इस कारण सूर्य की किरणें पड़ते ही जल उठती है और उसके समीप की वस्तु भी जलने लगती है।

मगर स्तंभ-कुंभ का बहिरंग-अंतरंग वैसा स्वच्छ नहीं होता, अतएव वे उसके तेज को ग्रहण नहीं कर पाते।

आप जानते हैं–दुनिया में दो प्रकार के प्राणी है। पहले प्रकार के वह हैं जो सूर्य के उगने पर हर्षित होते हैं, मस्त हो जाते हैं। दूसरे वे हैं जो सूर्योदय होने के बाद ठंडे पड़ जाते हैं। उन्हें आप क्या कहते हैं ?

'उल्लू'

होली के त्योंहार पर मूर्खों का सम्मेलन हुआ। गन्दे शब्दों और गीतों का प्रदर्शन हुआ! बहुत लोगों ने उसमें रस लिया। ऐसे लोगों से यदि सत्संग में सम्मिलित होने की प्रेरणा की जाती तो क्या उन्हें रुचिकर होती ? नहीं होती।

रात के राजा का क्या स्वभाव है ? प्रकाश से दूर रहना। तो इस प्रकार के स्वभाव वाले लोग भी होते हैं जो सूर्य की किरणों के समान भगवान् की भक्ति से, उनकी महिमागान से, ध्यान से और शास्त्रस्वाध्याय से दूर-दूर भागते हैं। वे भगवद् भक्ति का प्रकाश पसंद नहीं करते और उसे देखते ही दुबक जाते हैं। ऐसे लोगों के अन्तःकरण पर ईश्वरीय ज्योति प्रतिफलित नहीं होती। जिनका चित्त स्वच्छ नहीं है वे परमात्म सूर्य के तेज को ग्रहण नहीं कर सकते।

अभी जो किरणें उस खंभे पर पड़ रही हैं, यदि कांच पर पड़े तो क्या वैसी ही रहेंगी ? नहीं। वे एकदम चमक उठेंगी और उनका प्रतिबिम्ब सामने की दीवार पर पड़ेगा। जड़ कांच में भी यह खूबी है। उसने स्वच्छता प्राप्त करली है। अपना मैल हटा दिया है। इसी प्रकार जिस मनुष्य का अन्तःकरण उज्ज्वल

परमात्मा की ज्ञान-रश्मियों से उद्भासित होता है और दूसरों को भी आलोकित करता है । एक प्राचीन आचार्य कहते हैं—

मुक्ति गतेऽपीश ! विशुद्धचित्ते
गुणाधिरोपेण ममासि साक्षात् ।
भानुर्दवीयानपि दर्पणेषु,
भगाल्ल किं द्योतयते गृहान्तः ॥

वह कहते हैं—भगवन् ! आपके स्मरण, ध्यान और चिन्तन का फल परोक्ष नहीं है । वह तो प्रत्यक्ष है । कोई पूछे की साहब, भोजन करने का क्या फल है ? तो कहा जाएगा—हाथ कंगन को आरसी क्या ? आप जानना चाहते हैं तो भोजन करके देखलें । इसी प्रकार प्रभु के स्मरण-चिन्तन से क्या लाभ है, इस बात को जो जानना चाहता है, वह स्मरण-चिन्तन करके देख ले । अनुभव से ही पता चल जाएगा । जो सुनने से नहीं मालूम होता, वह करने से मालूम हो जाएगा ।

भोजन बार-बार किया जता है, अतएव भोजन का लाभ आसानी से समझ में आ जाता है । हर एक जानता है कि भोजन से चेहरे पर रंगत आ जाती है, अन्यथा शरीर दुबला और सूख कर कांटा हो जाएगा । इस प्रकार शरीर के लिए भोजन बड़ी जरूरत की चीज है ।

एक दिन भी भोजन में नागा हो जाती है, शारीरिक विकार आदि किसी कारण से उपवास करना पड़ता है तो शरीर के नूर में अन्तर पड़ जाता है । अभिप्राय यह है कि भोजन का परिणाम

और फल आप लोगों के अनुभव में है। उसे किसी से समझने की आवश्यकता नहीं है। उसके लिए किसी की प्रेरणा की आवश्यकता नहीं है।

भोजन के लिए प्रेरणा की आवश्यकता नहीं होती तो भजन के लिए क्यों होती है? इसलिए कि आपने भोजन का रसास्वादन तो किया है, पर भजन का रसास्वादन नहीं किया है। जब तक रसास्वादन नहीं किया तभी तक उसके उपदेश की आवश्यकता होती है, मगर जिस साधक ने एक बार अलौकिक भजनानन्द का अनुभव कर लिया है, वह जानता है कि उसमें कितना माधुर्य है, कितनी मस्ती है।

अभी आपके सामने मैंने काच का उदाहरण प्रस्तुत किया था। अगर दर्पण का तल स्वच्छ करके सूर्य के सामने खड़ा किया गया है तो क्या उसमें वह ज्योति आ सकेगी? उसका मैल हटता है तभी वह चमकता है और दूसरों को भी चमकाता है।

दर्पण साफ है मगर एक पतला-सा भी कपड़ा आदि आड़ा आ गया है तो? तो भी उसमें वह चमक पैदा नहीं हो सकेगी।

अच्छा कपड़ा भी हटा दिया गया; मगर दर्पण उलटा रख दिया जाय तो? तब भी उसमें चमक नहीं आएगी।

दर्पण सीधा है, फिर भी यदि वह स्थिर नहीं है और चलायमान है तो बराबर किरणों को फैला सकेगा? नहीं।

तो जब तक दर्पण में स्थिरता का अभाव है, मलीनता है और आवरण है, इन तीनों में से कोई भी दोष विद्यमान है, तब तक दर्पण सूर्यकिरणों को ठीक तरह ग्रहण नहीं कर सकता और न उसका विकिरण ही कर सकता है।

ध्यान के द्वारा पारमार्थिक प्रकाश ग्रहण किया जाता है। मगर उसमें भी पूर्वोक्त तीनों दोष बाधक होते हैं। ये दोष आप में उस ज्योति को पैदा नहीं होने देते।

आज ही प्रार्थना करने बैठे हैं या पहले भी कभी बैठे थे? इस जन्म में ही गुनगुनाये हो या पहले भी कभी गुनगुनाये थे? आत्मा अनादिकाल से भवभ्रमण कर रहा है और अनन्त बार मानव जन्म पा चुका है। ऐसी स्थिति में यह निश्चित ही है कि एक बार नहीं हजारों बार, लाखों बार यहां तक कि असंख्य बार आप गुनगुनाये होंगे, जैसे अभी गुनगुनाये थे। पर देखना यह कि आपके दिल का दर्पण चलायमान तो नहीं है आपके दिल के दर्पण पर कालिख तो नहीं पुती हुई है?

बात यही है कि इस जीव ने जन्मों से अनन्त बार प्रार्थना की है—भव-भव में वह गुनगुनाता रहा है। फिर भी ईश्वरीय तेज प्रकट नहीं हुआ। इसका कारण यही है कि दर्पण को मांजा नहीं और झट खड़ा कर दिया। बिना मांजे खड़ा करने से तेज कैसे प्रकट हो सकता है? अगर तेज प्रकट नहीं होता तो इसमें दर्पण का क्या दोष है? और प्रार्थना का भी क्या दोष है? सूर्य की किरणों का क्या अपराध है? किरणें तो वही की वही हैं; मगर मलीन दर्पण पर प्रस्फुटित होना उनका स्वभाव ही नहीं है।

वैज्ञानिक चिकित्सा में कई किरणों का प्रयोग करते हैं। देखेंगे तो पता चलेगा कि वे कांच को कितना स्वच्छ रखते हैं और किस प्रकार स्थिर रखते हैं। प्रार्थना द्वारा परमात्मा के प्रकाश की रश्मियां ग्रहण करने के लिए भी दिल के दर्पण को इसी प्रकार निर्मल और स्थिर रखने की आवश्यकता है। दिल का दर्पण जब स्वच्छ नहीं होता, स्थिर नहीं होता या निरावरण नहीं होता तो

निश्चल रहा और वीतराग-स्वरूप के चिन्तन के द्वारा अपनी आत्म को मांजने लगा तो किस फल का भागी हुआ? अर्जुन ने क्या पाया? वह अज्ञानी से ज्ञानी बना और अल्पज्ञ से सर्वज्ञ बन गया, उसने परमात्मा का पद प्राप्त कर लिया।

उसने वीतराग-स्वरूप के साथ अपने दिल के आइने को मिला दिया। जब मिला दिया तो उसमें चेतना आने लगी कि उनका स्वरूप क्या है और मेरा स्वरूप क्या है? इस प्रकार का शुद्ध चिन्तन चलने लगा और एक-एक विकार दूर होने लगा। विकार दूर होते गए और अवरोध की स्थिति भी दूर होती गई। परिणाम यह हुआ कि वह जहाँ पहले विकारों का पुंज था, वहाँ पूर्ण शुद्ध, बुद्ध निरंजन निष्कलंक दशा पर पहुँच गया।

आप भी उसी दशा को प्राप्त करना चाहते हैं– तो सर्वप्रथम दिल के आइने को मांजना चाहिए। फिर उसे स्थिर करना चाहिए और फिर उसपर चढ़े हुए आवरणों को दूर करना चाहिए। कहा भी है—

मन मन्दिर में गाफिले झाड़ू रोज लगाता चल!

इस प्रकार निर्मलता, निश्चलता और निरावरणता की त्रिवेणी में पवित्र होकर जब आपका अन्तःकरण वीतराग-स्वरूप के साथ जुड़ेगा तो उसमें अपूर्व ज्योति पुंज जाज्वल्यमान हो उठेगा।

वीतराग-स्वरूप के साथ एकाकार होने के साधन हैं— प्रार्थना चिन्तन, ध्यान, स्वाध्याय, सत्संग, संयम, आदि। इन साधनों का अवलम्बन करने से निश्चय ही वह ज्योति प्रकट होगी जिसके प्रकट होने की प्रतीक्षा हम अनन्त-अनन्त काल से करते आ रहे

है, जिनके लिए हम लालायित रहते हैं और जो हमारा स्वरूप होने पर भी हम से विलग हो रही है! उस लोकोत्तर ज्योति के प्रकट होने पर हमारे समस्त दुःख और कष्ट उसी प्रकार विलीन हो जाएँगे, जिस प्रकार आंधी चलने पर मेघों के पटल छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। उस समय यह आत्मा प्रार्थी की स्थिति से प्रार्थ्य के स्तर में आ जाएगी और अखण्ड शांति का निर्मल निर्झर प्रवाहित होने लगेगा। आत्मा में ज्ञान का वह आलोक उदित होगा जिसके सामने कोटि-कोटि चन्द्र और सूर्य भी खद्योत के समान प्रतिभासित होंगे। अव्याबाध सुख का सागर लहराने लगेगा, जिसकी तुलना नहीं हो सकती। कितनी स्पृहणीय है वह स्थिति! और उसे प्राप्त करना है तो आज से ही परमात्मा की आराधना आरंभ कर दीजिए।

लाल भवन }
जयपुर }
१५-३-६० }

निश्चल रहा और वीतरागस्वरूप के चिन्तन के द्वारा अपनी आत्मा को मांजने लगा तो किस फल का भागी हुआ ? अर्जुन ने क्या पाया ? वह अज्ञानी से ज्ञानी बना और अल्पज्ञ से सर्वज्ञ बन गया, उसने परमात्मा का पद प्राप्त कर लिया।

उसने वीतराग-स्वरूप के साथ अपने दिल के आइने को मिला दिया। जब मिला दिया तो उसमें चेतना आने लगी कि उनका स्वरूप क्या है और मेरा स्वरूप क्या है ? इस प्रकार का मुकाबिला चलने लगा और एक-एक विकार दूर होने लगा। विकार दूर होते गए और अवरोध की स्थिति भी दूर होती गई। परिणाम यह हुआ कि वह जहाँ पहले विकारों का पुंज था, वहां पूर्ण शुद्ध, बुद्ध निरंजन निष्कलंक दशा पर पहुंच गया।

आप भी उसी दशा को प्राप्त करना चाहते हैं– तो सर्वप्रथम दिल के आइने को मांजना चाहिए। फिर उसे स्थिर करना चाहिए और फिर उसपर चढ़े हुए आवरणों को दूर करना चाहिए। कहा भी है—

मन मन्दिर में गाफिले झाडू रोज लगाता चल !

इस प्रकार निर्मलता, निश्चलता और निरावरणता की त्रिवेणी में पवित्र होकर जब आपका अन्तःकरण वीतरागस्वरूप के साथ जुड़ेगा तो उसमें अपूर्व ज्योति पुंज जाज्वल्यमान हो उठेगा।

वीतरागस्वरूप के साथ एकाकार होने के साधन हैं– प्रार्थना चिन्तन, ध्यान, स्वाध्याय, सत्संग, संयम, आदि। इन साधकों का अवलम्बन करने से निश्चय ही वह ज्योति प्रकट होगी जिसके प्रकट होने की प्रतीक्षा हम अनन्त-अनन्त कालों से करते आ रहे

है, जिनके लिए हम लालायित रहते हैं और जो हमारा स्वरूप होने पर भी हम से विलग हो रही है! उस लोकोत्तर ज्योति के प्रकट होने पर हमारे समस्त दुःख और कष्ट उसी प्रकार विलीन हो जाएँगे, जिस प्रकार आँधी चलने पर मेघों के पटल छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। उस समय यह आत्मा प्रार्थी की स्थिति से प्रार्थ्य के पद में आ जाएगी और अखण्ड शांति का निर्मल निर्झर प्रवाहित होने लगेगा। आत्मा में ज्ञान का वह आलोक उदित होगा जिसके सामने कोटि-कोटि चन्द्र और सूर्य भी खद्योत के समान प्रतिभासित होंगे। अव्याबाध सुख का सागर लहराने लगेगा, जिसकी तुलना नहीं हो सकती। कितनी स्पृहणीय है वह स्थिति! और इसे प्राप्त करना है तो आज से ही परमात्मा की आराधना आरंभ कर दीजिए।

लाल भवन
जयपुर
१५–३–६०



गुणप्रार्थना

•

जिस प्रकार दर्पण को चमकाने के लिए सूर्य की किरणें साधन बनती हैं, उसी प्रकार अन्तःकरण को ज्योतिर्मय बनाने के लिए वीतराग का स्मरण, चिन्तन और ध्यान साधन है। यह बात कल बतलाई जा चुकी है। यह भी कहा जा चुका है कि अन्तःकरण में वीतरागभाव की ज्योति जागृत करने के लिए तीन दोषों को दूर करना आवश्यक है। जब तक चित्त में चंचलता है, मलीनता है और आवरण का पर्दा है, अर्थात् चल, मल और विक्षेप है तब तक वह अपूर्व ज्योति प्रदीप्त नहीं होगी। अतएव उस ज्योति को जागृत करने के लिए उक्त तीनों दोषों को हटाना अनिवार्य है।

कई साधक ऐसे हैं जो दोषों को हटाने की शर्त को सुन कर सोच-विचार में पड़ जाते हैं। इस शर्त को पूरा करना उन्हें टेढ़ी खीर जान पड़ती है। मन अत्यन्त चपल है। उसे बाँध कर रखना संभव नहीं जान पड़ता। वह इतना हठी है कि ज्यों-ज्यों उसे स्थिर करने का प्रयत्न किया जाता है, त्यों-त्यों चंचल होता जाता है। इधर खींचने का प्रयत्न करते हैं, तो उधर भागता है।

मानसिक चंचलता के तथ्य को स्वीकार नहीं किया जा सकता। जिन ज्ञानियों ने मन को स्थिर करने की शर्त लगाई है, वे भी इस तथ्य से अपरिचित नहीं थे। फिर भी जब उन्होंने उसे आवश्यक माना है तो समझना चाहिए कि मन को स्थिर करना अशक्य तो नहीं ही है। ज्ञानी जन अशक्यानुष्ठान का उपदेश नहीं देते।

तो फिर मन की चंचलता किस प्रकार हटाई जाए? इस प्रश्न पर जब विचार करते हैं तो हमारा ध्यान प्रार्थना की शक्ति और उसके विशाल दायरे की ओर आकर्षित होता है।

पहले कहा गया था कि देव और गुरु दो प्रार्थनीय हैं, किन्तु जब ब्यौरे में उतरते हैं और गहराई में जाकर विचार करते हैं तो प्रार्थनीयों की संख्या बढ़ जाती है। प्रार्थना का प्रवाह देव और गुरु की ओर ही प्रवाहित न होकर आत्मदेव की ओर भी बहता है और कुछ गुणों की ओर भी। इस प्रकार देव और गुरु की प्रार्थना के अतिरिक्त तीसरी प्रार्थना वह है जो अपने आप से की जाती है और चौथी प्रार्थना का स्थान कुछ गुण ग्रहण कर लेते हैं।

प्रार्थना में गुणों को स्थान प्राप्त है, इसी कारण भक्तजन

कभी-कभी अपने दैवी गुणों को और परमात्मा के अनन्त ज्ञान दर्शन आदि गुणों को लेकर भी प्रार्थना करता है और सोचता है-प्रभो ! आपके गुण, आपका वह ज्ञान, वह दर्शन और आपका वह अनन्त आनन्द मुझमें भी प्रकट हो ।

इस प्रकार की प्रार्थना तक तो प्रार्थना का सम्बन्ध परमात्मा के साथ रहता है, मगर जब आत्मिक गुणों को देव-देवी के रूप में मानकर उनकी प्रार्थना की जाती है, तब प्रार्थना का एक भिन्न तीसरा रूप हमारे सामने आता है ।

प्रश्न व्याकरण सूत्र में अहिंसा को देवी कहा है । इस रूप में शास्त्रकार ने एक नयी सूझ-बूझ हमारे सामने रखी है । वहां कहा गया है-

'एसा सा भगवई अहिंसा !'

कुछ देवी-देव तो ऐसे हैं जो प्रभु के परिवार के रूप में रहते हैं । वे उससे भिन्न होते हैं । किन्तु गुणों के देवी-देवों का प्रभु के साथ तादात्मय सम्बन्ध है । वे भगवान् से अभिन्न होकर रहे हुए हैं । ऐसे देवी देवों में अहिंसा, सत्य, ज्ञान आदि हैं ।

द्रव्य और गुण में कथंचित् तादात्मय सम्बन्ध होता है, दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि गुणों का समुदाय गुणों का अखण्ड पिण्ड ही द्रव्य है । इस दृष्टि से ज्ञानादि पूर्ण विशुद्ध गुणों का समूह ही परमात्मा है ।

अरिहन्त भगवान् के चैतन्य गुण को अथवा अहिंसा सत्य को उनसे पृथक नहीं किया जा सकता । हम अपनी समझ के लिए, विश्लेषणात्मिका बुद्धि के द्वारा भले ही गुणों का पृथक्करण कर

में और 'णमो नाणस्स णमो दंसणस्स' इत्यादि कहें, मगर वीतराग स्वरूप में ज्ञान-दर्शन आदि पृथक् नहीं हैं। न वे वीतराग से भिन्न हैं और न परस्पर में ही भिन्न हैं। आत्मा के समस्त गुण आत्मा में उसी प्रकार एकाकार हैं, जिस प्रकार मिश्री की मधुरता, शुक्लता और कठोरता आदि गुण उसमें एक रूप हैं। कितना ही शक्तिशाली यंत्र क्यों न हो, वह मिश्री की मधुरता, शुक्लता आदि का पृथक्करण नहीं कर सकता। इस प्रकार आत्मा के गुण आत्मा से भिन्न नहीं हो सकते और परस्पर में भी भिन्न नहीं हो सकते।

जब गुण प्रार्थनीय होते हैं और प्रार्थी उनके साथ अपना तादात्म्य सम्बन्ध अनुभव करता हुआ चिन्तन करता है, तब चंचलता आदि दोष निवृत्त हो जाते हैं, ऐसी स्थिति में आत्मा को सुसंस्कृत, सबल और समर्थ बनाना कुछ कठिन नहीं होता। मगर कठिनाई तब-तक रहेगी जब तक अपने दैवी गुणों का प्रकाश बढ़ा न लिया जाए। इस प्रकार ज्यों-ज्यों एकनिष्ठा बढ़ती जाएगी, चित्त की चंचलता घटती जाएगी। /

चंचलता का विरोधी तत्त्व स्थिरता है। इधर-उधर से निगाह हटाकर जब आप एक चिन्तनीय पर अपनी निगाह को जमा लेंगे, तब आपकी स्थिति चल के बदले स्थिर होगी।

चल दोष उदय का सूचक है और स्थिरभाव सत्त्व या क्षयोपशम का सूचक है, उदयभाव पर विजय प्राप्त करने का सूचक है। जब हम कर्मों के, मोह के, अज्ञान के उदय पर विजय प्राप्त करेंगे, तब हमारी शान्त भावना स्थिरभाव में परिणत हो जाएगी। इसके विपरीत जब तक हम इन्द्रियों के अधीन रहेंगे, हमारी मनोवृत्ति स्थिर नहीं हो सकती। हमारा मन रति, अरति, राग, द्वेष क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारों की प्रबलता से जब

तक मुक्त नहीं होता, तब तक उसकी परिणति अस्थिर ही रहने वाली है।

जब परिणति चल होती है तब मनुष्य न जाने किधर से किधर वह जाता है! सोचता है कुछ और, वहता है किसी और ही प्रवाह में। वह जानता है कि प्रार्थनीय देव अरिहन्त और सिद्ध ही हैं, मगर अवसर आने पर वह इस बात को भूल जाता है।

घर में बच्चा बीमार हो गया। बोदरी माता निकल गई। तब विचार आता है–जरा शीतला माता को ही मना लो! और आप शीतला माता की मनौती मनाने जा पहुँचते हैं।

यही चित्त की चंचलता है। आपका अन्तःकरण चंचल हो उठा, वीतराग की ओर से हिल गया। आपके प्रार्थ्य तो थे देवों के देव अरिहन्त, मगर व वक्त पड़ा तो श्रद्धा हिल उठी?

ऐसे अवसर पर इन्द्रियों पर काबू करने वाला और मन को नियंत्रित करने वाला आत्मा का ज्ञान रूप यदि मनुष्य को मिल जाता है तो उसकी सारी कमजोरियाँ दूर हो जाती। ऐसे चलभाव वाले प्राणियों को चलभाव से हटा कर स्थिरभाव में लाने के लिए आचार्य करते हैं–देखो, तुम बाहरी शक्ति के पीछे देवी-देवों के पोछे लग कर विचलित होते हो और वीतराग के प्रति अपनी एकनिष्ठा को भुलाते हो, यह कितनी बड़ी भूल है! सोचना चाहिए कि दुनिया जिन्हें देवी-देवता कहती है, वे क्या वीतराग के चरणों से अलग है? उनका कोई अलग अस्तित्व है? उनमें वीतराग की अपेक्षा कुछ विशेषता है? ऐसा तो कुछ है नहीं फिर क्यों अपने चित्त को भ्रमित करते हो?

इस प्रकार वीतराग की ओर से हटते हुए चित्त को ठिकाने

शील प्रार्थी पाषाण के कुछ टुकड़ों को, जिनकी कोई शकल-सूरत भी नहीं है और जिनमें खड्डे-खोचरे हैं, देवी मानने की बात नहीं सोच सकता। सच्चा प्रार्थी जड़ का प्रेमी नहीं होता। वह भूली-भटकी दुनिया के बहाव में नहीं बहता। उसका विचार विवेक से परिपूर्ण होता है और एक दिव्य कल्पना करके बोल उठता है—

म्हारी दया माता थाने मनाऊँ देवी शास्वता।
थां सम देवी नहीं कोई जग में हाथां हाथ हजूर।
लूठां ततखिण मिले कामना, दुःख जावे सब दूर॥

आपको किस माता की मनौती करनी है? बहिनों को खास तौर पर विचार करना है। यह शीतला-जगत की अशान्ति को दूर करके हृदय को शान्ति देने वाली माता कौन-सी है? यह दया माता ही है। दया माता में ही शान्ति प्रदान करने की क्षमता है। अशान्त को शान्त बनाने के लिए ही दया देवी का अवतार हुआ है। ठीक ही कहा है—

माता दया! हो तुझको प्रणाम,
तेरे बिना है जग मृत्यु-धाम।
तू ही बचाती अरु पालती है,
दुखी जनों के दुख टालती है।

—भारिल्ल

दया-माता की कल्पना कपोल कल्पना नहीं है। यह कोई मनगढन्त कहानी नहीं है। प्रश्नव्याकरण सूत्र का उल्लेख करके कहा जा चुका है—

एसा सा भगवई अहिंसा ।

अर्थात्—यह अहिंसा भगवती है—माता है।

गणधरों का अनुसरण करते हुए कवियों ने दया को माता के रूप में संबोधित करते हुए उसकी मनौती की है। कवि कहते है-'हे माता ! संसार में तेरे समान कोई शक्ति, कोई ताकत और प्राणियों को साता पहुंचाने वाली कोई देवी नहीं है।'

जगत् में आज जहाँ कहीं, थोड़ी बहुत भी शान्ति दिखाई देती है वह दयामाता का ही वरदान है। इस सत्य की परीक्षा के लिए आपको दूर जाने की जरूरत नहीं है। अपने ही घर में इसकी परीक्षा की जा सकती है। पारिवारिक शान्ति वहीं कायम रहती है जहाँ परिवार का प्रत्येक सदस्य अपने सुख को गौण और दूसरे सदस्यों के सुख को मुख्य मानकर व्यवहार करता है। यही बात ग्राम नगर और देश के लिए भी लागू होती है। यही दया देवी का रूप है।

सुबह के समय बच्चा रोटी के लिए रोता है और बाई जी यदि डंडा लेकर निकल पड़ती है तो देखिए उस बच्चे का रुख कैसा होता है ! वह पास में आता है या दूर भागता है ? वहां हिंसा देवी का आगमन जो हो गया है। मगर बाईजी का दिमाग जब ठंडा होता है तो बच्चा दौड़कर छाती से चिपक जाता है।

घर में दया माता की विद्यमानता में आप प्रसन्न रहेंगे या हिंसा दानवी के सान्निध्य से राजी होंगे ? घर की देवीजी, घर की माता या बहिनजी आपके साथ प्रेम का व्यवहार करे तो आप प्रसन्न मुद्रा में रहेंगे, आपका सारा परिवार सुखी रहेगा क्रूर रूप में मार-धाड़

मची रहे तो आप प्रसन्न रहेंगे ? तो जिस घर को आप अपना समझ रहे हैं, वहां भी देवी का रूप बदल जाने पर आप घड़ी भर के लिए भी जाना पसन्द नहीं करेंगे। आप बाहर बैठे रहेंगे और सोचेंगे कि जरा ठंडा हो जाने दो, तब जाएंगे।

जीवन में ऐसा अवसर आया है कि नहीं जिसमें घड़ी भर टालने की सोची हो। घड़ी भर वह सूरत न देखे और आप उसकी सूरत न देखो। बोले और अंगारे बरसने शुरु हुए ! ऐसी स्थिति में कौन सी देवी को आप याद करते हैं ? चाहते हैं–भगवान् अब मूड जल्दी अच्छा हो जाय तो मुसीबत दूर हो ! इसलिए तो कवि ने कहा है–

म्हारी दया माता ! थांने मनाऊं देवी शाश्वता।

आप सोच सकते हैं–दया को माता कहा है। पर माता का कोई वाहन होता है, आकार-प्रकार होता है। क्या इस माता का भी कोई वाहन और आकार है ?

जब तक पूरा रूपक खड़ा न हो जाय, आपके दिल में उसका आसन नहीं जम सकता। अतएव कवि ने दया–देवी के सांगोपांग रूपक को खड़ा कर दिया है। वह कहते हैं—

ज्ञान रूप सिंह की असवारी तप–त्रिशूल है हाथ।
दानादिक चहु वेद विराजे,भुजादंड विस्तार ॥
विनय–मुकुट थांरे सिर पर, ऐसो कियो सिणगार।
म्हारी दया माता ! थांने मनाऊं देवी शाश्वता ॥

दुनिया जिसे शीतला देवी कहती है, उसकी सवारी गर्दभ है। कहा है—

यादृशी शीतला देवी, तादृशं खरवाहनं।

जैसी माताजी वैसी ही सवारी उन्हें मिली। प्रजापति का घोड़ा अर्थात् गधा!

मगर ज्ञानी जन देवी मानते हैं, उस दया देवी की सवारी कौन सी है? वह ज्ञान रूपी सिंह पर आरूढ़ होती है। यह देवी महान् शक्ति के रूप में घर-घर में विराजमान है, तथापि उसका मूलवाहन तो ज्ञान ही है। जिसके घट में ज्ञान है, उसी के घट में दया है। जहां अज्ञान रूप गर्दभ है वहां हिंसा-दानवी का राज्य होता है। वहां राक्षसी जा पहुंचती है। जहां राक्षसी-दानवी होती है वहां देवी नहीं रहती।

दया-देवी सिंह पर आसीन होती है, यह तो ठीक, मगर देवी के हाथ में विघ्नों को दूर करने के लिए कुछ भयजनक-त्रासजनक शस्त्र भी होते हैं, तो इस देवी के पास कौन-सा शस्त्र है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए कवि ने कहा है-'तपस्या का त्रिशूल है।' तपस्या के इस त्रिशूल के प्रयोग से, जो भी काम क्रोध लोभ मोह आदि आत्मा के शत्रु हैं, जो बड़े ही जालिम और क्रूर हैं और जो निरन्तर आत्मा को सताते रहते हैं, इधर-उधर पलायमान हो जाते हैं। वे पास भी नहीं फटकने पाते।

कहा जा सकता है कि देवी के हाथों का तो पता नहीं, त्रिशूल रहेगा कहां? तब कवि बतलाते हैं-हाथ कैसे नहीं है? उसके चार हाथ हैं, वह चतुर्भुज है। उसकी चार भुजाएं हैं-दान, शील, तप और भावना!

इस प्रकार दया-देवी का स्वरूप जब इतना उज्ज्वल है तो उसके अंग-अंग में एक नई शालीनता होगी। नई ज्योति का

रूप होगा। इतने पर भी दया देवी की एक बड़ी विशेषता है। वह ज्ञान सिंह पर आसीन है और तप का त्रिशूल ग्रहण किये है, फिर भी उसके मस्तक पर विनय का मुकुट सुशोभित रहता है!

सिंह पराक्रम का प्रतीक है, तप त्रिशूल तेजस्विता का द्योतक है। पराक्रम और तेजस्विता के साथ विनय का समन्वय! कितनी सुन्दर और भव्य कल्पना है! इसमें कितना गूढ़ रहस्य भरा है, इस बात को वही समझ सकता है, जिसने दया और अहिंसा के गंभीर स्वरूप का सम्यक प्रकार से मनन किया हो।

हाँ, तो इस प्रकार की दिव्य शक्तियों से सम्पन्न दया-देवी ही हमारी रक्षक है और वही हमारे जीवन को आगे बढ़ा सकती है। इस प्रकार दया को देवी के रूप में समझ कर अपने हृदय को स्थिर किया जा सकता है।

प्रभु का कथन है—दया-देवी की इतनी ही विशेषताएँ नहीं, उसमें अन्य विशेषताएँ भी हैं। वह—

भीयाण विव सरणं, पक्खीणं पिव गगणं,
तिसियाणंपिव सलिलं, खुहियाणं
पिव असणं, समुद्दमज्झेव पोतवहणं,
चउप्पयाण व आसमपयं दुहट्ठियाणं च
(व) ओसहिबलं, अडवीमज्झे विसत्थगमणं,
एत्तो विसिटठ्तरिका अहिंसा

जो भयभीत प्राणी अपने जीवन की रक्षा के लिए इधर-उधर भाग-दौड़ रहे हैं, उन्हें कोई शारण-दाता मिल जाय तो वह

निर्भय हो जाते हैं। उन्हें शान्ति मिलती है, सान्त्वना मिलती है और साता की अनुभूति होने लगती है।

भय से त्रस्त और हांफता हुआ एक कबूतर राजा मेघरथ की गोद में आ गिरा। वैदिक परम्परा में मेघरथ के स्थान पर शिव नाम आया है, मगर महत्त्व नाम का नहीं तत्त्व का है। कबूतर संतप्त था और भय का मारा कांप रहा था। मगर एक समर्थ रक्षक का जब सहारा मिल गया और उसने हाथ रख दिया तो उसकी कंपकंपी मिट गई। भय दूर हो गया।

तू ही बचाती अरु पालती है,
दुखी जनों के दुख टालती है।

अहिंसा देवी ही मरते को बचाने वाली और पालन करने वाली है। उसी की बदौलत दुखियों के दुख दूर होते हैं। मनुष्य कुछ परिमित प्राणधारियों को ही शरण दे सकता है, मगर अहिंसा भगवती की शीतल छाया तो सभी को प्राप्त होती है। राजा को, रंक को, कीट-पतंग को, मनुष्य को, देव को, इन्द्र को और महेन्द्र को, सभी को वह शरणदायिनी है।

हमें सर्व-शरणदायिनी देवी के बदले उसी देवी भगवती की शरण ग्रहण करनी चाहिए, जिसकी ऐसी अपरिमित शक्ति है और देवेन्द्र तथा नरेन्द्र भी जिसकी छाया में पलते हैं। विवेकवान् साधक ऐसी देवी को छोड़ कर किसी कल्पित देवी के आगे क्यों मस्तक रगड़ेगा? क्यों भटकता फिरेगा?

जिसके सामने देवी का इतना उज्ज्वल, प्रसन्न और भव्य रूप मौजूद है, जिसके सामने उसकी शीतला की यह मनोहर

मूर्ति है, वह सम्यग्दृष्टि क्या इसे छोड़ कर किसी दूसरी शीतला की उपासना की कामना भी कर सकता है ? जिसके स्वरूप का कोई ठिकाना नहीं है, नाम का ठिकाना नहीं है, आकार का ठिकाना नहीं है, कब और कहां हुई, इसका भी ठिकाना नहीं है !

दुनियां की शीतला के संबंध में सोडाली की कहानी गढ़ ली गई है। कहानी में बतलाया गया है कि वह ब्राह्मण की छोकरी थी। इधर-उधर के लड़कों और लड़कियों का भक्षण करने लगी। लोग उसे मारने-ताड़ने लगे। तब एक कुंभार ने उसे शरण दे दी। उनमें आपस मे यह शर्त तय होगई कि लोगों से मुझे जो मिलेगा, उसका आधा हिस्सा तुझे दे दूँगी। दोनों ने आपस में कुछ विचार किया और एक तरकीब सोची। उस तरकीब के अनुसार आगे जाकर वह किसी गटर में गिर गई। उस समय कुंभार ने उसे सहारा दिया और गधे पर बिठला कर कहा-रात्रि के समय तुम घूमने निकला करो। काली-कलूटी वह थी ही, फिर बड़ी विद्रूप ! अंग टेढे, मेढे और सूरत डरावनी। तिस पर रात का समय। लोगों ने उसे देख कर समझा-कोई डाकिन आ गई है ! यह खा जाएगी।

बस, अब कुंभार की बारी आई। उसने कहा-'मैं सब को बचा लूँगा। मगर ऐसा करो कि हर साल इसकी पूजा किया करो, इसे मनाया करो।'

बस, तभी से शीतला माता का निर्माण हो गया और उसकी पूजा होने लगी। ऐसी निराधार और ऊलजलूल कहानी के आधार पर हजारों बहिनें और भाई एक दिन पहले से ही ठंडा खाना शुरू कर देते हैं ! एक दिन माता के निमित्त और दूसरे दिन बोदरी के निमित्त। चक्कर ही चक्कर है ! पता नहीं सम्यग्दृष्टि

क्या संसार की रीति है। मन से तो बड़े पक्के हैं, व्यवहार ऊपर से निभा लेते हैं। अधिक करते भी क्या हैं, थोड़ा-सा ठंडा चूरा डाल देते हैं। वह भी जानवर ही खाते हैं!

परन्तु यह सब खयालात गलत हैं। यह हृदय की दुर्बलता और चंचलता के द्योतक है। वीतराग का सिद्धान्त कुछ और ही बतलाता है। अय आत्मन्! तू अनन्त शक्ति का भंडार है। अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और शक्ति तेरा स्वरूप है। फिर क्यों इतनी दुर्बलता है तेरे अन्दर? अगर तुझे देवी को मनाना है तो अहिंसा भगवती को. दया-देवी को ही मना, जिसकी बदौलत संसार पल रहा है, चल रहा है और जीवित रह रहा है!

भव्य जीवो! अपने जीवन में तुम जितना-जितना अहिंसा का पालन करोगे, आराधन करोगे, उतना ही उतना तुम्हारे दुःख का, शोक का, रोग का, आधि व्याधि और उपाधि का नाश होता जाएगा। परन्तु इससे विपरीत, तुम गलत राह पर चलते हो, अपने शुद्ध स्वरूप को भूल कर अन्तरात्मा को मलीन करते हो और समझते हो कि ठंडा खाने से माता राजी हो जाएगी, माता को पूजेंगे तो बाल-बच्चे ठीक रहेंगे, यह कल्पना तुम्हारे लिए हितकर नहीं है।

ज्ञानियों का कथन है कि दयादेवी के प्रसाद से ही शान्ति की प्राप्ति हो सकती है। उसी की आराधना करो। उसकी अराधना किस प्रकार होती है? किसी को त्रास न दो, किसी को सताओ मत ' अपने नौकर के प्रति भी कठोर व्यवहार मत करो। पड़ौसियों से झगड़ा न करो और उनकी सुख-सुविधा का खयाल रक्खो। भूखे और असहाय जीवों को अभय दो। पर कल्याण की भावना रक्खो। हृदय में कुत्सित विचारों का प्रवेश न होने दो।

प्रार्थना का अद्भुत आकर्षण

•

जिस प्रकार परमात्मा की प्रार्थना की जाती है, उसी प्रकार आत्मदेव की और आत्मीय सद्गुणों की भी प्रार्थना की जाती है, यह बात कल कही जा चुकी है। सद्गुणों की प्रार्थना के विवेचन में अहिंसा-भगवती की प्रार्थना का उल्लेख भी किया जा चुका है। अहिंसा आत्मा से भिन्न वस्तु नहीं है, वरन् आत्मा ही एक शक्ति है और शक्ति होने के कारण ही के वह उपास्य है। श्रीभगवतीसूत्र में कहा है—

आया सामाइए,
आया सामाइअस्स अट्ठे।

वह शक्ति यद्यपि आत्मिक है और आत्मा में विद्यमान भी रहती है, मगर साधारण आत्माओं में वह सुषुप्त रहती है। उसे जागृत करने के लिए, अंधेरे प्रदेश में से प्रकाश में लाने के लिए साधक कभी-कभी अपने सद्गुणों में भी प्रार्थना करता है और उनके महत्व को अपनी दृष्टि के सन्मुख लाता है।

शास्त्रों ने हमें यह मार्ग बतलाया है। कहा है- ऐ साधक ! तुम्हारे अन्तरतर में निहित अहिंसा देवी है। वह प्रार्थना की वस्तु है, जिससे संसार के समस्त प्राणी शान्ति पाने की आशा करते हैं।

अब यह देखना है कि चाहे सद्गुणों से प्रार्थना की जाय, चाहे देव या गुरु के चरणों में की जाय, परन्तु प्रार्थी किस प्रकार प्रार्थना करे कि जिससे उसकी प्रार्थना कारगर हो सके? इस विषय में आचार्यों ने कुछ विचार किया है। गीता में कृष्ण, उपासना की विधि बतलाते हुए कहते हैं-

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धय. । गीता. १२ ।

सर्वप्रथम साधक का अन्तःकरण शान्त और स्वच्छ होना चाहिए और उसे अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना चाहिए। शान्त दरिया में अथवा पानी से भरे शान्त कटोरे में आप अपना मुख देखना चाहेंगे तो दिख जाएगा। मगर शर्त यह है कि पानी स्वच्छ होना चाहिए। कटोरे का पानी शान्त तो हो मगर स्वच्छ न हो-गंदला हो तो चेहरा दिखाई नहीं देगा।

आपने कभी किनारे पर बैठ कर किसी गहरे हौज में झांकने का प्रयत्न किया है? हौज कितना ही गहरा हो, अगर उसका

पानी शान्त और स्वच्छ है तो हौज के तलभाग में स्थित कंकर आदि वस्तुएं आपको स्पष्ट दिखाई देंगी। भीतर की वस्तुएं ही नहीं, बाहर की चीजों का प्रतिबिम्ब भी उसमें देखा जा सकता है। बाहर की सिनेरी, बगल में खड़ी हुई अट्टालिकाएं, महल का दृश्य आदि भी आप उसमें देख सकते हैं। उस शान्त और स्वच्छ जल में ऐसी खूबी है।

प्रार्थी का हृदय भी ऐसा ही शान्त और स्वच्छ होना चाहिए। जिसका हृदय ऐसा है उसे अपने अन्तःकरण में रही हुई भावनाएं दूसरों को समझाने की आवश्यकता नहीं रहती और न अपने या दूसरे के जीवन की बातें समझने में विलम्ब लगता है। स्वच्छ अन्तःकरण वाले प्रार्थी के मन में सारी बातें इसी प्रकार झलकने लगती हैं जैसे स्वच्छ जल में आसपास के पदार्थों का प्रतिबिम्ब।

ऐसे शान्त और स्वच्छ अन्तःकरण में ही परमात्मा की दिव्य विभूति रूप शक्तियां प्रतिबिम्बित होती हैं और प्रार्थी उन्हें अपने भीतर अवलोकन करके धन्य हो जाता है।

तीसरी चीज है जितेन्द्रियता। साधक जब तक इन्द्रियों को वशीभूत नहीं कर लेता, तब तक उसका हृदय शांत नहीं हो सकता। इन्द्रियों की चंचलता मानसिक शांति में अन्तराय रूप है। अतएव चित्त की शांति एवं स्वच्छता के लिए जितेन्द्रियता अनिवार्य रूप से अपेक्षित है।

इन तीन गुणों से सम्पन्न साधक जब प्रार्थना के मंच पर आसीन होता है, तब आत्मा की समस्त दैवी शक्तियों को जगाना आसान हो जाता है। आत्मिक शक्तियों के जागरण से अन्तःकरण में अद्भुत, अपूर्व और अनूठी शांति का प्रादुर्भाव होता है। आनंद

की उत्ताल तरंगें तरंगित होने लगती हैं और उस समय साधक को ऐसी अनुभूति होती है कि संसार का सारा सुख, संसार का सारा वैभव और संसार की सारी सम्पदा मेरे इस आनन्द के सामने तुच्छ है, नगण्य है।

आपको भक्तामर स्तोत्र के श्लोक पढ़ने का मौका मिलता है, परन्तु कभी आपने सोचा है कि इस स्तोत्र के प्रणेता आचार्य मानतुंग जब एक राजा के द्वारा कारागार में बंद किये गये तब भय, संताप और शोक का प्रबल निमित्त होने पर भी क्यों निर्भय शांत और स्वस्थ रूप में विराजमान रह सके? उनकी वह निर्भयता किस बल बूते पर थी? उनकी शांति और स्वच्छता का आधार क्या था? बिना हाथ लगाये और बिना हथौड़े की चोट खाये वे बन्धन किस प्रकार तड़ातड़ टूट गये और देखने वाले चकित और विस्मित रह गये।

आचार्य ने पुकार की थी क्या कि भगवान्, आओ, मुझे बचाओ, आकर मेरे बन्धन काट दो? नहीं। तथापि उनके भीतर एक ही बल था, एक ही ताकत थी—हृदय की निष्ठा का।

सुने री मैंने निर्बल के बल राम।

उपासना में सतत लीन रहने वाले भक्त को और सहज चेतन स्वभाव के अखण्ड आनन्द में अवगाढ़ रहने वाले महात्मा को कारागार में अवरुद्ध करने की शक्ति किसी में है? दुनिया कहती है उनकी परीक्षा हुई।

कुछ उद्दण्ड लोगों ने, कुछ तमाशा देखने की चाह रखने वालों ने और कुछ सन्त पुरुषों के द्वेषियों ने राजा के कान भर

दियें उनके विषय में अनेक प्रकार की ऊँची-नीची बातें कहीं गई। किसी ने कहा-मानतुंग बड़े चमत्कारी हैं, साधक हैं, सन्त हैं। उनका करतब देखना तो चाहिए !

राजा कान का कच्चा था। उसने आज्ञा दी और आचार्य को एक कमरे में बन्दी कर दिया गया। कई भीतर से भीतर वाले कमरे में, अड़तालीस तालों में। इतना भी पर्याप्त न मालूम पड़ा तो हाथों में हथ कड़िया और पैरों में बेड़ियाँ डाल दी गई। मगर क्या आचार्य ने भगवान् से शिकायत की कि भगवन् ! यह कैसी बात है ! आपके भक्त को इतना कष्ट उठाना पड़ रहा है ! नहीं, उन्होंने ऐसी कोई शिकायत नहीं की। उन्होंने कहा—

आपाद कण्ठमरु शृङ्खल वेष्टि तांगा—
गाढं बृहन्निगड कोटि निघृष्ट जंघाः।
त्वन्नाम मन्त्रमनिशं मनुजाः स्मरन्तः,
सद्यः स्वयं विगतबन्धभया भवन्ति ॥

अर्थात्-जिनके अंग-अंग-पैरों से लेकर कंठ तक, बड़ी-बडी मजबूत सांकलों से बाँध दिये गये हैं, सख्त बेड़ियों की रगड़ लगते रहने से जिनकी जांघें घिस गई हैं, ऐसे मनुष्य भी यदि तुम्हारे नाम रूपी मंत्र का निरन्तर स्मरण करते हैं-दिन-रात तुम्हारे नाम के जाप में ही लीन रहते हैं, तो तत्काल समस्त बन्धनों से रहित और निर्भय हो जाते हैं। उन्हे बन्धनहीन और भयहीन होने के लिए किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं रहती। उन्हें संसार की बड़ी-से-बड़ी ताकत भी भयभीत नहीं बना सकती।

किसी को कानों कान भी खबर नहीं होती कि किसने और कब आकर बन्धनों को छिन्न-भिन्न कर दिया! किसने गले में पड़ा हुआ वह गुरुतर लोहमय हार हटा दिया, किसने हथकड़ियां और बेड़ियां तड़ाक से तोड़ कर फेंक दी? किसी ने एक साथ वह जादू कर दिया कि एक, दो, चार, दस नहीं, अड़तालीस ताले, आंधी आने पर पके फल की तरह, नीचे गिरा दिये! भक्त निर्बन्धन हो गया, मानो कुछ हुआ ही नहीं था। कारागार के अवरुद्ध द्वार उन्मुक्त हो गए!

राजा चकित, उसके कान में फूंक मारने वाले विस्मित और धर्मगण हतबुद्धि रह गए। राजा अपने किये पर पश्चात्ताप करता हुआ आचार्य के चरणों में गिर पड़ा। शान्तहृदय सन्त की प्रार्थना में क्या ताकत थी? कितनी महिमा थी!

हमें यह देखना है कि यह स्तुति किस रूप की है? इसमें भगवान् के नामस्मरण की महिमा का प्रतिपादन किया गया है, यह याचना नहीं की गई कि—भगवान्! मैं बन्धन में पड़ गया हूँ। मेरे बन्धन को काटो। मेरी सहायता करो। सहायता न करोगे तो तुम्हारी और मेरी शान किरकिरी हो जायगी। बात यह है कि सच्चा साधक संकट के समय भी गड़बड़ाता नहीं है, पथविचलित नहीं होता है। हर समय उसका विवेक जागृत रहता है।

आप लोग इधर-उधर भटकते हैं। कभी किसी देवी के पीछे और कभी किसी देवता के पीछे! एकनिष्ठता आपमें नहीं है। यहां आते हैं संकोचवश होकर, लिहाज के वश होकर या पारिवारिक परिपाटी के कारण। पर आपका चित्त-भ्रमर कहां है? उसमें कितनी एकाग्रता है, यह तो आप ही जानें या भगवान्

जाने। दो ही जान सकते हैं, तीसरे को दखल देने का अधिकार नहीं है। आपको स्वयं ही विचार करना है कि आपका मन प्रार्थना में कितनी गहराई तक जाता है और प्रार्थना के समय कितना गद्गद हो जाता है?

अन्तःकरण से प्रार्थना करने वाले प्रार्थी को प्रार्थना के शब्दों का उच्चारण करते-करते इतना भावमय बन जाना चाहिए कि उसके रोंगटे खड़े हो जाएँ। अगर प्रभु की महिमा का गान करे तो पुलकित हो उठे और अपने दोषों का पिटारा खोले तो रुलाई आ जाय। समय और स्थान का ख्याल भूल जाय—सुधबुध न रहे। ऐसी तल्लीनता, तन्मयता और भावावेश की स्थिति जब होती है तभी सच्ची और सफल प्रार्थना होती है। ऐसी तन्मयता की स्थिति में मुख से निकला शब्द और मन का विचार वृथा नहीं जाता मगर ऐसा कब होता है? जब शान्त, स्वच्छ और जितेन्द्रिय होकर प्रार्थी प्रार्थना करता है, तभी ऐसी अपूर्व स्थिति उत्पन्न होती है।

मैं प्राचीन काल के प्रार्थियों के विषय में बतला रहा था। आचार्य मानतुंग और उनके समान सैकड़ों भक्तों की जीवनियां हमारे सामने हैं। उनके जीवन पर गहराई से विचार करेंगे तो प्रतीत होगा कि वे भावना के उच्च स्तर पर जा पहुंचे थे।

भावना की उच्चता का पता प्रतिकूल संयोग उपस्थित होने पर होता है। रोष का प्रसंग उपस्थित होने पर भी रोष न हो, क्षोभ के निमित्त मिलने पर भी क्षोभ न हो, कोई सता रहा हो और हमारे प्रतिकूल आचरण कर रहा हो तब भी मन में मैल न हो, तभी भावना की ऊँचाई की परीक्षा होती है। कहा है—

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते,
येषां न चेतांसि त एव धीराः ॥

विकार की सामग्री प्रस्तुत हो, फिर भी अगर चित्त पर वह प्रभाव नहीं डाल सकती तो मानना पड़ेगा कि साधक की बुद्धि स्थिर है, वह धीर है।

इससे अधिक प्रतिकूल आचरण अन्य क्या होगा कि कोई हथकड़ी-बेड़ी डाल दे, सारे शरीर को बन्धनों से जकड़ दे, अँधेरी कोठरी में पटक दे और तालों पर ताले जड़ दे, बिना किसी अपराध के, बिना किसी गुनाह के! इस स्थिति में आचार्य मानतुंग का मान तुंग हो उठना स्वाभाविक था, उनका धैर्य उड़ान हो जाना साधारण सी बात थी, रोष भड़क उठना चाहिए था। रोम-रोम में आग लग जाना अस्वाभाविक बात नहीं थी। वह सोच सकते थे कि मैंने इस नालायक राजा का क्या बिगाड़ा है जो इस प्रकार मुझे सता रहा है! वह भस्म कर देने या शाप देने का विचार भी कर सकते थे। मगर नहीं, आचार्य के चित्त में ऐसी कोई बात नहीं उठी। वे अत्यन्त धैर्यवान् एवं शान्तचित्त साधक थे। उन्होंने निराली ही बात सोची—बन्धन कहाँ है? बांधने वाला कौन है? और वास्तविक बन्धन क्या है? लोहे की यह हथकड़ी-बेड़ियाँ मुझे नहीं बांध सकतीं, क्योंकि मैं अरूपी, अमूर्तिक चिदानन्दमय हूँ। मुझे बन्धन बद्ध करने की शक्ति राजा की क्या इन्द्र में भी नहीं है। मेरे बन्धन तो दूसरे ही हैं। अगर मैं उनसे मुक्त हो जाऊँ तो यह बन्धन अकिंचित्कर है।

राजकुमारी चन्दना के विषय में भी आपने सुना होगा। वह राजघराने में जन्मी, पली और बड़ी हुई। लेकिन सन्तापों में साधना करते हुए भी उसकी क्या गति बनी? वह बालिका,

जिस सेठ के घर पुत्री बन कर रह रही थी, वह उसका आदर करता था और अपनी कन्या के समान उसे वात्सल्य प्रदान कर रहा था किन्तु सेठानी की नज़र खारी थी। एक की दृष्टि में प्यार था, दूसरे की दृष्टि में क्षार था सेठानी चाहती थी–यह किसी तरह मेरे घर से निकल जाय। उसके मन में पाप था। भय कि कहीं यह मेरे प्रति सेठ का जो प्रेम है उसमें हिस्सा न बँटा ले। यही आशंका का शल्य उसके हृदय में साल रहा था।

संयोगवश सेठ को बाहर जाना पड़ा और सेठानी को अवसर मिल गया। उसने क्या करतूत की, सुना है न आपने? सेठानी ने कपटमय प्रेम प्रदर्शित करते हुए कहा–बेटी, जरा इधर आना।

चन्दनबाला सेठानी को माता ही मानती थी और उसके मन में कोई दुविधा नहीं थी। अतएव उसके बुलाने पर चन्दना का जाना स्वाभाविक ही था। वह सेठानी के प्रत्येक आदेश का पालन करती थी और शान्तिपूर्वक अपना जीवन यापन कर रही थी। वह सोचती थी–मनुष्य को प्रत्येक परिस्थिति में सन्तुष्ट रहना चाहिए। राजमहल में रही तो राजकुमारी हो कर और दासी बनना पड़ा तो दासी होकर शान्ति से समय व्यतीत करना ही ज्ञानी की पहिचान है।

अगर चन्दनबाला गये–गुज़रे जमाने को याद करती और सोचती हाय! मैं महाराजा दधिवाहन की पुत्री और धारिणी जैसी माता की दुलारी! कितना ऊँचा घराना। राजमहल में मेरा जन्म हुआ! सोने के पालने में मेरा शैशव बीता। वैभव मेरे चरणों में लोटता था। सैकड़ों दास–दासियाँ मेरे आदेश की प्रतीक्षा में हाथ बांधे खड़े रहते थे और आज मेरी क्या दशा है?

इस प्रकार वह अतीत का रोना रोती तो अपने वर्त्तमान को विषमय बना लेती। शायद उसकी आँखों की बूँदें कभी सूखने ही न पातीं।

मगर चन्दना विवेकवती थी और सुखी बनने की कला उसे आती थी। अतएव इस परिस्थिति में भी वह सन्तुष्ट है, और इसी कारण दुखी नहीं है। वह सेठ के घर को अपना घर, सेठ को पिता और सेठानी को माता मान कर ही सन्तुष्ट है।

सेठानी के पुकारते ही चन्दना तुरंत जा पहुँची। तब सेठानी बोली—बेटी, तेरे बाल बहुत बढ़ गए हैं। इधर ला तो अपना सिर।

चन्दना ने सिर उसके पास कर दिया और मूला ने बाल कतर दिये।

'माँ ने यह क्या किया' चन्दना सोचने लगती है। मगर सहसा उसके विचार की दिशा बदल जाती है और मन में कहती है—माँ जो करे उसी में मुझे प्रसन्न होना चाहिए।

तब सेठानी ने कहा—'अच्छा' यह गहने भी उतार दो।'
'जो हुकुम।'
'पैरों के नूपुर, ये भी खोल दो।'
तथास्तु।'
'यह कौपीन लो। इसे पहन लो।'
'बड़ी मेहर माँ! आपका यह वरदान भी शिरोधार्य है।'

चन्दना ने प्रसन्न भाव से कपड़े का एक टुकड़ा लेकर जितना अंग ढँका गया, ढँक लिया।'

'तूने बहुत दिनों तक रत्नजटित सोने के आभूषण पहने हैं।

आज दूसरे प्रकार के आभूषणों का भी मज़ा लेकर देखो।'

'जो आज्ञा माताजी !'

मूला ने चन्दना के हाथों में हथकड़ियां और पैरों में बेड़ियां डाल दीं।

'तुझे कुछ तप नहीं करना है ? ले मैं तुझे एकान्त में बिठला देती हूँ।'

यह कह कर वह राजदुलारी चन्दना को एक तलघर में ले गई, जो अंधेरा था, एकान्त था और जहाँ थोड़ी सी हवा के प्रवेश करने सिवाय और कोई सुविधा नहीं थी। उसे उसमें बन्द करके वह अपने पीहर चली गई। एक दिन बीता, दूसरा दिन भी समाप्त हो गया और तीसरे दिन का भी अन्त आ गया। चन्दना भौंयरे में बन्द, न खाना, न पीना !

चन्दना ने सोचा—चलो, अच्छा अवसर मिल गया प्रकृत्ति और माता व्रत करने को प्रेरणा दे रहे हैं। क्यों नहीं इस सुअवसर का लाभ उठाया जाय ? उसने व्रत कर लिया भगवान् को साक्षी बना कर। निर्जल निराहार तेला पूर्ण हुआ ही था कि सेठजी ग्रामान्तर से वापिस लौट आए। चन्दना के संबंध में वह विचार कर रहे थे—मैं एक साधर्मी बहिन को लेकर आया हूं। उसकी साधना में सहयोगी बन सकूँ तो अच्छा हैं। वह भी साधना में संलग्न रहती थी। प्रातःकाल प्रभुप्रार्थना स्मरण, ध्यान और चिन्तन में बिताती थी। सेठ बराबर उसका ख्याल रखते थे। किसी स्वार्थ से, मोह से या अभिलाषा से नहीं, सहधर्मी बहन समझ कर। वह सोचते—चन्दना सती है, सुशीला है, सतियों में एक रत्न है। इसे कदाचित् कोई पीड़ा या असुविधा न हो।

तो जब सेठजी आये तो इधर-उधर देखा-आदमियों का पता नहीं, चन्दना का पता नहीं, पत्नी भी दीखती नहीं। आवाज़ लगाने लगे-बाई चन्दना ! चन्दना !

बाई बोले तो कैसे बोले ? घर में घूमते-घूमते सेठजी तलघर के नजदीक आए। पैरों की आहट पहचान कर उसने धीमे स्वर में कहा-'पिताजी, मैं यहाँ हूं।'

सेठ ने चन्दना का स्वर पहचाना और आश्चर्य में पड़ गए। दिल में उथल-पुथल मच गई। तलघर का द्वार खोला, बाहर निकाला। उनका हृदय रो उठा चन्दना की वह हालत देख कर। उन्होंने पूछा-'बेटी, ऐसा व्यवहार तो कोई दुश्मन भी नहीं कर सकता। घर के भीतर यह किसने किया ?

चन्दना ने शान्त पर क्षीण स्वर में कहा-पिताजी, करने वाला कौन है ? यह तो अपने ही कर्मों का फल है। मगर यह सब बातें पीछे कीजिएगा। तीन दिन की भूखी-प्यासी मैं बोलने में भी समर्थ नहीं हूं।

सेठ-अच्छा-अच्छा, अभी तेरी हथकड़ियां-बेड़ियां तुड़वाने का प्रबन्ध करता हूं।

चन्दना-पहले पारणा के लिए कुछ नहीं मिल सकता ?

सेठ ने इधर-उधर देखा, कुछ खाद्य पदार्थ मिला नहीं। एक कोने में उड़द के बाकले, जानवरों के लिए सूप में रखे थे। उन्होंने सूप सामने रख कर कहा-अभी तो इनके सिवाय कुछ दीखता नहीं।

सेठ लुहार को लाने रवाना हुए।

चन्दना बोली–पिताजी, जब तक आप लौटते हैं पारणा की वस्तु लेकर, तब तक मैं किसी महात्मा के पदार्पण की भावना करती हूँ। आहारदान देकर पारणा करूं तो मेरा भाग्य धन्य हो जाय।

सेठ ने कहा–ठीक है भावना भा कर कुछ चिगलती रहना। तब तक मैं आया।

चन्दना की भावना कितनी उच्च है ? आप लोगों कोभी ऐसे अवसर पर आहारदान की भावना उत्पन्न होती है ? तपस्या का दिन बितता उतना भारी नहीं होता, मगर पारणा की घड़ी भारी होती है। नवकारसी के बाद जरासी देर हो जाय तो लोगों का मिजाज बिगड़ जाता है। ठीक समय पर पारणा होना चाहिए। मांजी या बहूजी देर करती हैं तो ललाट पर त्योंरियां चढ़ जाती है।

मगर चन्दना के अन्तःकरण में कितनी पावन तरंग उठर ही है ! सेठ जी के चले जाने पर चन्दना ने मन ही मन कहा–प्रभो ! इस दुनियां में दीन की पुकार सुनने वाला कोई नहीं है, परन्तु आप तो दीनानाथ हैं ! क्या मुझे यह सौभाग्य नहीं मिल सकता कि किसी उत्तम पात्र को दो दाने देकर बाकले मुंह में डालूं ?

दरवाजे पर बैठी चन्दना उत्कट भावना के साथ किसी संत महात्मा की प्रतीक्षा कर रही थी। उसका एक पैर देहली के बाहर और दूसरा अन्दर था। तुलसीदास कहते हैं—

जिहिके जेहि पर सत्य सनेहू,
सो तिहि मिलत न कछु संदेहू।

जिसकी जिस पर सच्ची-निष्कपट और निःस्वार्थ प्रीति है, उसे उसकी प्राप्ति हो जाती है। इसमें कोई संदेह नहीं।

यहाँ किस पर प्रीति थी? बाकलों या भगवान पर? तीन दिन की भूखी-प्यासी थी, मगर चन्दना को उसकी प्यास नहीं थी, उसकी प्यास सच्चे मन की थी अन्दर की आवाज मानो बोल रही थी कि—प्रभो! आओ मेरे द्वार पर आओ।

उसकी अन्तरात्मा सम्पूर्ण शक्ति के साथ पुकार रही थी। न मालूम वह पुकार कैसे भगवान् महावीर के कानों तक पहुँच गई और वे किस प्रकार उससे खिंचे हुए चले आये।

कथा साहित्य बतलाता है कि भगवान् कठिन अभिग्रह से लगभग पाँच महीने और पच्चीस दिन से निराहार थे। वे भिक्षा के लिए भ्रमण करते थे, मगर अभिग्रह की पूर्ति नहीं होती थी। वह तप की मूर्ति और संयम का साकार स्वरूप थे। उनका अभिग्रह साधारण नहीं था, उसमें तेरह कठिन शर्तें थीं।

आधुनिक युग में भी महात्मा लोग अभिग्रह कर लिया करते थे। यहीं जयपुर में तपस्वी लालचन्दजी महाराज ने एक बार सहसा अभिग्रह कर लिया था—कोई भाई अपनी बाईं तरफ का कान पाँच बार खटखटा कर देगा तो पारणा करूँगा, अन्यथा नहीं। क्या ध्यान में भी कभी किसी को इस प्रकार के अभिग्रह की कल्पना हो सकती है? लड्डू देंगे, हलुआ देंगे, रोटी देंगे पानी देंगे मगर कान और वह भी बाईं ओर का कौन देने की सोचेगा? परन्तु नहीं, उनके अन्तराय कर्म के दलिक तपस्या की आग में जल कर निःशेष हो गये थे। वे घूमते-घूमते दीवान नथमलजी के घर जा पहुँचे। तपस्वी जी को देखकर सहसा

प्रभु पाछा फिरने पारणो लीनो,
जठे देवता आई उच्छव कीनो ।
हाथ कंगन गले मोतियन माला,
धन-धन धन सती चंदनबाला ।

भगवान् ने चन्दनबाला की स्थिति देखी, राज कन्या है, हाथों में हथकड़ी और पैरों में बेड़ियाँ हैं, सिर मुंडा है, तीन दिन की तपस्या भी है, एक पैर देहली के भीतर और एक बाहर भी है, सूपड़े में उड़द के बाकले भी हैं, इस प्रकार बारह बोल तो हैं, पर आंखों में आंसू नहीं हैं। यह देख भगवान् वापिस लौट पड़े।

उधर चन्दना का स्वप्न जैसे शून्य में विलीन हो गया। द्वार पर आई गंगा वापिस चली गई। आंगन में आया कल्पवृक्ष गायब हो गया! हाय, मेरे दुर्भाग्य का अन्त अभी तक नहीं हुआ! इस प्रकार का विचार आते ही जैसे आंखों का बांध टूट गया। पानी की धारा बह उठी। उस निर्मल नेत्रनीर धारा में चन्दना का रहा-सहा कलुष भी धुल गया।

चन्दना ने रुदन किया और उसी समय दयानिधि फिर वापिस मुड़े। अब तेरहों बोलों की पूर्ति हो चुकी थी। चन्दना के हाथों प्रभु ने पारणा लीया। चन्दना धन्य हो गई।

सेठ लुहार से हथकड़ी बेड़ियाँ तुड़वाना चाहता था, पर उसकी आवश्यकता ही नहीं रही। बगैर हथौड़े की चोट, वे तड़ातड़ टूट गईं। लोहे की कड़ियाँ रत्नों के कंकण के रूप में परिणत हो गए। बेड़ियाँ स्वर्णमय नूपुर बन गईं। गले में पड़ा लोहमय तौक हार बन गया।

किस जदूगर ने यह जादू कर दिया ? निसर्ग के निगूढ़ रहस्य हमारे मति के अगोचर हैं। दर्शक आते हैं, चकित होते हैं और धन्य-धन्य करते हैं। रत्नों और सोनैयों की वर्षा की बात सुनते ही मूला भी दौडी आती है। वह पहले जिसे ठुकराती थी, उसी चन्दना के चरणों में गिरती है। मगर चन्दना को उस सोने से, रत्नों से या हीरों से कोई सरोकार नहीं था। भगवान् के चरणों से ही उसे अनुराग था। भगवान् को केवल-ज्ञान उत्पन्न होते ही उसने अपना जीवन, संयमसाधना के निमित्त प्रभु के चरणों में समर्पित कर दिया। वह छत्तीस सहस्त्र साध्वियों की नेत्री बनी।

अभिप्राय यह है कि प्रार्थना में अद्भुत और अलौकिक आकर्षण शक्ति है उसी शक्ति ने भगवान को आकर्षित किया और चन्दना को निर्बन्धन कर दिया। उसी शक्ति ने आचार्य मानतुंग का उद्धार किया। तो प्रार्थना का बल इन्द्र के सिंहासन को भी हिला देता है। मगर इन्द्र बेचारा क्या है जब कि त्रिलोकीनाथ अरिहन्त भी प्रार्थना के बल से आकृष्ट हो जाते हैं।

शान्त, स्वच्छ और जितेन्द्रिय प्रार्थी की आन्तरिक वृत्तियाँ ऐसे सांचे में ढल जाती हैं कि वहाँ अशान्ति का कोई कारण नहीं रह जाता। जिस प्रकार चन्दना ने अपने जीवन को और मानतुंग ने अपने जीवन को प्रार्थना के पीयूष सागर में निमग्न कर दिया, उसी प्रकार जो मानव आत्मदेव की प्रार्थना करता है, वह शिव-शक्ति का अधिकारी बन जाता है। एक बार शिव-शक्ति की उपलब्धि हो जाने पर प्रार्थी कृतार्थ हो जाता है और उसे प्रार्थना की भी आवश्यकता नहीं रह जाती। उस समय जगत् के छोटे-मोटे देव स्वयं उसके चरणों में गिरते हैं।

अगर आपने प्रार्थना के महत्व को समझ कर उसे अपना लिया तो आपका भी कल्याण होगा और जगत् का भी कल्याण होगा। तथास्तु।

लाल भवन
जयपुर
१७-३-६०

आदर्श माता की आराधना

तूं ही तूं ही प्रभु मेरे मन मांहि वसियो ।

कवि ने इस प्रार्थना में एकनिष्ठा का आदर्श विचार प्रस्तुत किया है। शब्दों का उच्चारण तो आसान है, उसमें कोई कठिनाई उपस्थित नहीं होती, मगर शब्दों द्वारा व्यक्त, किये गये भाव को जीवन में मूर्त्तिमान् बनाना उतना आसान नहीं है। वहिरात्मा जीव धन-सम्पत्ति, महल-मकान, मोटर-गाड़ी, कुटुम्ब-परिवार, रौब-दौब आदि को ही महत्व का स्थान मानता है। मगर उनकी निस्सारता को समझ कर, उनकी ओर से चित्तवृत्ति को मोड़ कर, परमात्मा के चरणों में अपने आपको समर्पित कर देना ही जीवन

की वास्तविक धन्यता है। यही भाव इस प्रार्थना में सूचित किया गया है। सचमुच वही भक्त धन्य है, उसी का जीवन सार्थक है जिसके मन में एक मात्र परमात्मा का ही निवास है और जिसने सांसारिक पदार्थों को निस्सार समझ कर उनकी ओर से अपना मन हटा लिया है।

प्रार्थी कहिए या भक्त, जब एकनिष्ठ हो जाता है, उसकी श्रद्धा और सारी शक्ति जागृत और केन्द्रित हो जाती है, तो वह समझ जाता है कि दुनियां की जितनी भी दूसरी शक्तियां हैं, जितना वैभव है, सत्ता, पद या आकर्षण है, वह सब नगण्य है, नाचीज़ है। वह अपनी निष्ठा के सामने सब को तुच्छ समझता है। उसकी हृदय वीणा से एक ही स्वर झंकृत होता है-

तूं ही तूं ही प्रभु मेरे मन मांहि बसियो।

बोलने में कितना आसान है यह पद। किन्तु जिसे आप अपने मन में बसने की बात कह गये हैं, कदाचित् वह आपसे पूछ ले कि-मैं तुम्हारे मन में कहां बसा हूं? तुम्हारे हृदय के किस कोने में मेरा स्थान है? तो शायद आप बता नहीं सकेंगे। वह प्रभु आपके दिल में नहीं, सिर्फ शब्दों में बसे हैं। जीभ ने शब्दों को उगल दिया और वे फैल कर आकाश में विलीन हो गए। आपकी अन्तरात्मा से उनका कोई सरोकार नहीं है। यही कारण है कि प्रार्थना करने पर भी जीवन में कोई उज्ज्वलता नहीं आ रही है, दिव्यता और भव्यता नहीं प्रस्फुटित हो रही है और व्यवहार में कुछ अन्तर नहीं पड़ रहा है।

जिसने प्रार्थना के भाव को जीवन में उतारा है, जो जीभ से नहीं अन्तरात्मा से प्रार्थना के वचनों का उच्चारण करता है,

उसके जीवनव्यवहार में, उसकी प्रत्येक क्रिया में परिवर्त्तन हो जाता है। उसे धर्मस्थानक में प्रार्थना करते समय ही नहीं, प्रत्येक क्रिया के समय प्रभु का स्मरण रहता है। कवि यही कहता हैं—

ऊठत बैठत सोवत जागत,
नाम तिहारो उर विच वसियो
तूं ही तूं ही प्रभु मेरे मन मांहि वसियो।

सच्चा भक्त वही है जिसकी प्रार्थना निरन्तर चालू रहती है। उठते, बैठते, सोते, जागते, हर समय उसके अन्तःकरण में परमात्मा बसा रहता है। क्षण भर के लिए भी वह परमात्मा से विलग नहीं होता।

दशवैकालिक सूत्र में साधक की चर्या का प्रतिपादन करते हुए महत्वपूर्ण बात बतलाई गई है—

'से ग्रामे वा नगरे वा'
चाहे वह ग्राम में हो या नगर में हो,
'सुत्ते वा जागरमाणे वा'
चाहे सोया हो या जाग रहा हो,
'दिआ वा राओ वा'
चाहे दिन का समय हो, चाहे अंधेरी रात हो,
'एगओ वा परिसागओ वा'
चाहे अकेला हो, चाहे समूह में रहा हुआ हो,

हर हालत में साधक की चर्या एक-सी रहती है और रहनी

चलूँ। हे साधक! जब तू अकेला है तो यह मत सोच कि मैं यहाँ अकेला हूँ, दूसरा कोई देखने वाला नहीं है तो दूसरी तरह से चलूँ। जब दूसरों के साथ होऊँगा तो दूसरी तरह से चलूँगा। इसी प्रकार गाँव है तो और तरह से चलूँ और नगर है तो और तरह से चलूँ। प्रभु ने कहा है, तेरी चर्या ऐसी न हो। वह दुरंगी न हो। उसमें दिखावे की भावना न हो। जो हो अन्तरात्मा से हो, जो हो परमात्मा की साक्षी से हो, उस परमात्मा की साक्षी से जो सर्वज्ञ–सर्वदर्शी है और जिससे कुछ भी छिपाया नहीं जा सकता। परमात्मा की साक्षी से हो, परमात्मा के भय से नहीं! तेरी चर्या तेरी सहज प्रवृत्ति बन जाए।

भगवान् की आज्ञा का पालन करने में साधु के लिए निष्ठा का जो रूप बतलाया गया है, वही परमात्मा की भक्ति में लगे भक्तों के लिए भी लागू होता है।

एक जगह एक प्रकार की वृत्ति और दूसरी जगह दूसरे प्रकार की वृत्ति हो, धर्मस्थान में आए तो और तरह की भावना, बाहर निकले तो बदल गए! साधु के पास बैठे हैं तो अरिहन्त भगवान्, बाजार में पहुँचे तो लक्ष्मी नारायण भगवान्, परिवार के बीच बच्चा भगवान्, दूसरी जगह गये तो देव–देवी भगवान्। वास्तविक, माता, यह सब क्या है? क्या आपके भगवान् एक हैं? एक को आपका हृदय अर्पित है? आश्चर्य है दुनिया के लोग सुनते बहुत हैं, विचारते भी काफी हैं और करते–धरते कुछ, कर भी गुजरते हैं, मगर फिर वहीं के वहीं आ पहुँचते हैं। वे वही पुरानी कहावत चरितार्थ करते हैं–'पंचों का हुक्म सिर माथे, पर परनाला तो यहीं पड़ेगा।' आपकी बात मंजूर है, आपका निर्णय शिरोधार्य है, मगर होगा तो वही जो मैंने सोच रखा है! आपका जीवन-व्यवहार इसी कहावत के आधार पर तो नहीं चल रहा है?

पशु भी जिसे एक बार अपना स्वामी बना लेते हैं, उसके प्रति वफादार रहते हैं। दूसरा कोई उन्हें कितना ही पुचकारे, प्रलोभन दे, फिर भी वह अपने मालिक को छोड़ कर दम भर के लिए भी वह अन्यत्र बैठना गंवारा नहीं करते। कई लोग पालतू कुत्ते अपने साथ रखते है। वे घूमते-घामते आपके यहां आ जाते हैं और जब तक आपके यहां बैठे हैं, तब तक कुत्ता भी उनके पास बैठा रहेगा। मालिक चल दिया और किसी कारण कुत्ते ने न देख पाया तो बाद में पता लगते ही वह उसकी खोज करने लगता है। ऐसी स्थिति में आप उसे पुचकार कर, रोटी डाल कर अपने यहां बिठलाना चाहेंगे तो वह बैठ जाएगा?

'नहीं बैठेगा!'

अगर उसे मालिक नहीं मिला है तो चीं-चीं करके हैरान होगा और मालिक की खोज में व्यग्र रहेगा। वह ज़मीन पर अपने मालिक के पैरों की गंध सूंघेगा और उसी के सहारे-सहारे पीछा करेगा। जब मालिक मिल जाएगा तो दुम हिला कर उसके पैरों पर गिर जाएगा और जीभ से पैर चाटेगा।

किसी समाचार पत्र में पढ़ा था—एक अधिकारी की बदली हुई तो वह सारा सामान लाद कर रवाना हो गया। उसने एक कुत्ता और एक बन्दर पाल रक्खा था। सब सामान और बाल-बच्चों को तो वह ले गया, पर उन दोनों को भूल गया। संभवतः नौकरों के भरोसे रह गया होगा।

कुत्ते ने बंगला सूना-सूना देखा और समझ लिया कि मालिक चला गया है और मुझे यहां छोड़ गया है। तब उसने बन्दर को अपनी पीठ पर बिठलाया और वह सूंघता-सूंघता वहीं जा

पहुँचा जहाँ उसका मालिक था। शायद कानपुर या किसी दूसरे नगर की बात है। उसका तबादला किसी दूसरे शहर में हुआ था। तत्पश्चात् बस्ती के बाहर पहुँचते ही उसने अपने मालिक को देख लिया और झट उसके पास पहुँच कर पैर चूमना शुरू कर दिया। उस समय भी बन्दर उसके पीठ पर बैठा था। लोग आश्चर्य से देखने लगे और कुत्ते की स्वामी-निष्ठा की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। मालिक ने प्यार से उसे छाती से लगा लिया।

आखिर बात क्या हुई? कुत्ता वहाँ था, वहीं क्यों नहीं रह गया? मगर नहीं, कुत्ते की अन्तरात्मा में यही ध्वनि गूँज रही थी—

तूं ही तूं ही मालिक मेरे मन मांहि बसियो।

इस प्रकार की आवाज़ तो आप भी लगा रहे हैं, किन्तु कुत्ते जितनी निष्ठा और विश्वास आपमें है? इस प्रश्न का उत्तर आपको अपने हृदय से ही मांगना है। क्या आपको प्रभु के प्रति इतनी निष्ठा है कि आप छाती ठोक कर कह सकें कि आपका मन कभी नहीं भटकेगा?

जिस भक्त की भगवान् के प्रति प्रगाढ़ निष्ठा उत्पन्न हो जाएगी, उसे दुनिया के अन्य पदार्थों में, धन-दौलत में, वैभव-विलास में सुखानुभूति नहीं होगी। भक्त का मन प्रभु के चरणों के सिवाय अन्यत्र कहीं शान्तिलाभ नहीं कर सकेगा। वह भले ही स्वर्गों का साम्राज्य नहीं चाहेगा, धन नहीं चाहेगा, परन्तु उसका अन्तःकरण तो इसी भाव से भरा रहेगा कि तू ही मेरे अन्तःकरण का स्वामी है, अगर मेरे हृदय का सम्राट कोई है तो वह तू ही तू

है। अन्य नहीं। तेरे सिवाय कोई मेरा स्वामी नहीं, साथी नहीं, सहायक नहीं, सखा नहीं।

जब भक्त का हृदय, इस प्रकार की एकनिष्ठा के साथ केन्द्रित हो कर प्रभु-चरणों में समर्पित हो जाता है तो दुनियां का बड़े से बड़ा प्रलोभन भी उसे अपनी ओर नहीं खींच सकता। जब भक्त का भगवान् के साथ इस प्रकार तादात्मय स्थापित हो जाता है तो वह स्वयं आराध्य बन जाता है। भगवान् के आदेश को जिसने अपने जीवन में मूर्तिमान किया है और जो सर्व तो भावेन भगवान् के प्रति समर्पित हो चुका है, ऐसा आज का वह भक्त भी कल भगवान् बन जाता है। उसके जीवन में तेज ताप रहने नहीं पाते, संसार की कोई कामना उसे स्पर्श नहीं कर पाती और इसी कारण वह सब प्रकार के दुःखों से पार हो जाता है। क्योंकि कामना को जीतना ही दुःखों को जीतना है। भगवान् ने दुःखों को नष्ट करने का एक सबल सूत्र हमें सिखा दिया है-

कामे कमाही,
कमियं खु दुक्खं !

अर्थात्-हे सुख के अभिलाषी साधक ! सुखी बनने का एक ही उपाय है-कामनाओं को जीतना। अगर कामनाओं को जीत लिया है तो समझ ले कि तूने समस्त दुःखों पर विजय प्राप्त कर ली है।

भक्त के अन्तःकरण में परमात्मा के अतिरिक्त किसी दूसरी वस्तु के लिए स्थान नहीं रह जाता-काम नहीं रह जाता और इस कारण कोई भी वस्तु उसे अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकती। जब ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है तो मानसिक चंचलता

न्न हो जाती है। जब तक मन में दुर्बलता रहती है, तभी तक वह सांसारिक पदार्थों की ओर खिंचता है। दुर्बलता दूर होने से विकार भी दूर हो जाता है और चंचलता भी दूर हो जाती है।

मानसिक चंचलता के प्रधान कारण दो हैं—लोभ और अज्ञान। बाह्य पदार्थों के प्रति अनुराग की जो व्यक्त अथवा अव्यक्त वृत्ति है, वही लोभ कहलाती है। वह वृत्ति चित्त को निश्चल नहीं होने देती। दूसरा कारण अज्ञान है। आज देवी-देवताओं की जो उपासना चल रही है, उसका मूल कारण अज्ञान है, नासमझी है। लोग नहीं समझ पाये और निरन्तर वीतराग की वाणी सुनती हुई भी हमारी माताएँ-बहिनें नहीं समझ पाईं कि रोग क्या है और देवी-देवता क्या है? वे आज भी चेचक को माता समझती हैं। शारीरिक रोग को दैवी रोग समझती हैं।

आज बहिनें शारीरिक रोग को माता का रोग समझती हैं। मान लीजिए कि वह माता का ही रोग है, तब माता तो वह स्वयं ही हैं। किन्तु वे नहीं जानतीं कि यह रक्त का ही रोग है। माता के शरीर की गर्मी बच्चे के शरीर में प्रवेश कर जाती है और जब वह बाहर निकलती है तो उसे माता का रोग—माता का रोग कहा जाता है। इस प्रकार यह रोग उनका अपना ही रोग है। अपना ही दोष है। इस तथ्य को भूल कर यह मान बैठना कि यह शीतला-भवानी का कोप है, अमुक काली देवी का कोप है, और उससे यह रोग उत्पन्न हुआ है, अज्ञान है। वस्तुतः यह देवी का प्रकोप नहीं, किन्तु बालक के शरीर में पहुँची हुई माता की गर्मी का प्रकोप है। यह तथ्य वैद्य-हकीम होशियार भी कह देते हैं फिर भी मानसिक दुर्बलता के कारण—

दम पर टिके नहीं रहते। अगर आपकी समझ सही हो तब और वह टिकी रहे तो आपकी बहुत-सी परेशानियाँ कम हो जाएँ, बहुत-सी निरर्थक दौड़धूप खत्म हो जाय। तब आपका अहित भी नहीं किया ग्रहगण कर सकते।

जब तक शरीर के विकारों को, शरीर की ऊष्मा से होने वाली बीमारी को देव-देवी के नाम पर थोप कर चला जाता है, तब तक समझना चाहिए कि अज्ञान दूर नहीं हुआ है।

तो मनुष्य को समझना चाहिए कि चेचक शारीरिक ऊष्मा से उत्पन्न होने वाला विकार है, अतएव उसके लिए उचित चिकित्सा ही उपयुक्त हो सकती है। यह भी समझ लेना चाहिए कि इस पृथ्वीतल पर अरबों मनुष्य निवास करते हैं। उनमें से अधिक भाग देवी की आराधना-पूजा नहीं करता फिर भी उनका जीवन उसी प्रकार चल रहा है, जिस प्रकार देवी-पूजकों का। दूसरे देशों की बात जाने दीजिए, और हिन्दुस्तान का ही विचार कीजिए। यहां भी अमुक लोगों को छोड़कर बहुत-से लोग दैवीप्रकोप में विश्वास न करके उसे शारीरिक रोग ही समझते हैं और इसी समझ के अनुसार चिकित्सा करवाते हैं और उनके बालक स्वस्थ भी हो जाते हैं।

विदेशों में चेचक को दैवीप्रकोप नहीं समझा जाता और न उसकी शान्ति के लिए देवी की उपासना की जाती है, फिर भी वहां भारत की अपेक्षा कम बच्चों की मृत्यु होती है। यहां देवी की आराधना करने पर भी अधिक मौतें होती हैं। इसका क्या कारण है? इससे ध्यान में आ जाएगा कि लाखों नहीं, करोड़ों नहीं, अरबों मनुष्य शरीर का दोष समझ कर उपाय करते हुए जीवन का रक्षण करते हैं, वहां वीतराग-मार्ग की साधना करने वाले अज्ञान के वशीभूत क्यों हों?

आपको न खाना हो तो व्रत रखिए। मगर यह समझकर कि आज शीतला का दिन है, गरम नहीं ठंडा खाएंगे, क्या लाभ है? इससे न निर्जरा का योग बनता है, न व्रत का और न धर्म का योग बनता है। हां, किसी दिन एकासन की भावना से एक दम चूल्हा बंद रखें अथवा उपवास की भावना से दिन भर चूल्हा न जलावें तो वह धर्म में शुमार हो सकता है। इससे निर्जरा का लाभ भी हो सकता है। मगर जिस ढंग से मामला चल रहा है, उसमें क्या आरंभ-समारंभ कम होता है? आज चूल्हा नहीं जला मगर कल कितना भट्ठा चला था? संभव है दो दिनों में जितना आरम्भ नहीं होता, उससे अधिक एक ही दिन में कर लेना हो! यह आरम्भ की बचत कैसे मानी जाय? आपकी दृष्टि भी तो आरम्भ से बचने की नहीं होती। आप तो देवी के कोप से बचने का विचार करते हैं। इस प्रकार इस ठंडा खाने में आरम्भ और हिंसा का बचाव तो कुछ होता नहीं, उलटे मिथ्यात्व का पोषण होता है जो समस्त पापों में बड़ा पाप है और समस्त पापों का जनक है।

आरम्भ से बचने की भावना होती तो उसका रूप संवत्सरी जैसा होता। किन्तु दोनों के रूप में आकाश-पाताल जितना अन्तर है।

अगर मनुष्य जीवन के आदर्श को समझे और प्रकाश के मार्ग में जीवन को मोड़े तो वह सचमुच ही परमात्मा के चरणों में प्रार्थना करने का अपने आपको अधिकारी बना सकता है। जिसके जीवन में अज्ञान का साम्राज्य है, जो लोभ से छुटकारा नहीं पा सका है और जिसकी निष्ठा एकाग्र नहीं हुई है, वह प्रार्थना करने का सच्चा अधिकारी कैसे होगा?

आपने सुना होगा, जगत्माता मरुदेवी के सामने संसार का सब प्रकार का वैभव बिखरा पड़ा था। ऋषभदेव जैसा पुत्र, भरत चक्रवर्ती जैसा पौत्र, भरा-पूरा विशाल परिवार, वह महल पहल ! किस चीज की कमी थी उनको ? ऋषभदेव की माता सारी वनीता की माता थी, बल्कि समग्र भरतखंड की माता थी। मगर थोड़े दिनों से वह परेशान थी, क्योंकि बेटा ऋषभ का कुछ पता नहीं चल रहा था, कुछ समाचार नहीं मिला था। उनके हृदय में गहरी चाह थी कि कब ऋषभ का मुख देखूं। दिल उचट-उचट कर रह-रह कर ऋषभ की ओर ही दौड़ता था। एक ही लगन थी उनको।

एक दिन उन्होंने सुन लिया आज मेरा बेटा यहां आने वाला है। फिर यह भी सुना कि वह नगरी के बाहर आ चुका है। यह सुनते ही, सब काम छोड़कर वह मिलने के लिए चल पड़ी। हर्ष की हिलोरें हृदय में समाती नहीं थी। आंखों के आगे वही ऋषभ का चेहरा चमक रहा था।

मरुदेवी माता थी। पूजने वाली या पूजाने वाली ? माता माता को पूजे तो भी ठीक। सासू भी माता के बराबर ही होती है। आज कितनी बहुएं मिलेगी जो उनकी आज्ञा का पालन करके उनके मनको सन्तोष देकर और उनकी सेवा करके उनका सत्कार करती हो ? घर में बैठी हुई जीवित माता का अपमान करेंगी पर भाखर वाली माता को पूजा करने जाएंगी ! सासू से लड़ाई करेंगी और जन्म देने वाली माता का सामना करने से न चूकेंगी, पर पाषाण खण्ड की पूजा करने दौड़ेगी।

जब वे असली माता की अवहेलना करेंगी और नकली माता को पूजेंगी तो उनकी सन्तान क्या करेगी ? वह भी असली की उपेक्षा करके नकली की ही उपासना करेगीं। अगर बच्चों-

बच्चियों को सिखाना है कि वे अपनी माता की सेवा करें तो पहले स्वयं अपने घर में जो बड़ी बूढ़ी माताएँ हैं, उनका सन्मान, आज्ञा पालन और विनय करना चाहिए। उनके प्रति ऐसा नम्रतापूर्ण व्यवहार करना चाहिए कि उन्हें सन्तोष उपजे इस सद्-व्यवहार को देख-देख कर ही आगामी पीढ़ी इसी प्रकार के संस्कार प्राप्त कर लेगी और गृहस्थी नरक के बदले स्वर्ग के समान बनी रहेगी।

मगर आज तो उलटी गंगा बह रही है और इसी कारण सारा जीवन गड़बड़ में पड़ गया है।

एक कवि ने बतलाया है कि माता बनना तो कैसी बनना चाहिए:—

मरु देवी सी बन लो बहना,
पाओगी तुम भी सुख चैना।
तज मिथ्या जंजाल,
जग में अमर हुई।
मरु देवीजी माता,
जग में अमर हुई, जग में अमर हुई।
माता का दिन खूब मनाती,
अपना जननी पद विसराती।
आज भटकती नारी,
जग में अमर हुई········॥

क्या आदर्श है माता का? कवि स्मरण दिलाता है कि एक माता हो गई है करोड़ों अरबों वर्ष पहले। उसने उस चिरतर

अतीत में मातृपद का आदर्श उपस्थित किया था, मातृत्व का गौरव स्थापित किया था। वह मातृपद की महत्ता को अमर देन दे गई।

क्या खूबी थी जगत्माता मरुदेवी में ? उसने किसी बाहर की शीतला की आराधना नहीं की। उसने पाषाणमयी शीतला की पूजा नहीं की। उसने बतलाया कि शीतला मनाने का अर्थ है– स्वयं तन–मन से शीतल होना। यदि तन–मन में शीतलता न आई तो वृत्ति में किस प्रकार शीतलता आएगी ? मरु देवी माता की शीतला का रूप क्या है ? तन की शीतलता और मन की शीतलता। इस रूप में मरु देवी माता का जीवन कितने ही युगों तक सुखशान्ति पूर्वक व्यतीत हुआ।

लाखों वर्षों तक उनका जीवन फल–फूलों पर बीता। शाक–सब्जी उस समय उबाली नहीं जाती थी। जब तक भारत के आदि देव भगवान् ऋषभ ने कलाओं का आविष्कार करके आग में पकाने और सिझाने की बात नहीं बतलाई थी, तब तक फलाहार और शाकाहार होता था। गायें थी अवश्य, पर उन्हें पकड़ कर और उनके स्तन खींच कर दुहना उस समय के लोग नहीं जानते थे।

उस युग की जनता पूर्ण रूप से निसर्ग पर निर्भर थी, अतएव वहां आज की तरह नाना प्रकार की बीमारियां भी नहीं थीं, उस युग में माता मरु देवी ने किस प्रकार जिन्दगी बिताई, यह बतलाते हुए आचार्य कहते हैं—

करोड़ वर्ष तक पाई साता, मरुदेवीजी माताजी।

आज साठ–सत्तर वर्ष का जीवन का समय है। वह भी टसकते

ठसकते, कराहते-कराहते व्यतीत होता है। कोई सिरदर्द लेकर बैठा है, किसी के घुटनों में दर्द है, कोई किसी रोग से पीड़ित है तो किसी को कोई बीमारी सता रही है। आज यह बीमारी है, कल दूसरी। डाक्टरों एवं हकीमों से फुर्सत नहीं मिलती। दवा-दारु का सिलसिला खत्म ही नहीं होता।

काफी कमाते हैं, लेकिन कोई पूछता है तो कहते हैं-क्या करें साहब, खर्च बहुत होता है! पहले कम कमाते थे तब भी खर्च बहुत होता था, आज बहुत कमाने लगे हैं तब भी खर्च का रोना रोते हैं, डाक्टरों का खर्च बहुत है। और चाहे दुनियां भर के खर्च घटा दें, दान लेने आने वालों को खाली हाथ लौटा दें मगर दवाखाने का खर्च तो साहब करना ही पड़ेगा? जेब खाली होगी तो कर्ज लेकर भी करना होगा। यहाँ तो विवशता है।

मगर ऐसी स्थिति क्यों उत्पन्न हुई? तमाम रोगों का मूल कारण एक ही है- आज आहार विहार और शयन की वृत्तियां संयम में नहीं है। ठीक हैं कि रोग का अन्तरंग कारण असाता वेदनीय कर्म है मगर वह अपना फल बाह्य निमित्त मिलने पर ही देता है। अज्ञानवश, लोलुपतावश और लापरवाही के कारण मनुष्यों ने अपने आहार-विहार को ऐसा असंयत कर लिया है, ऐसा गलत तरीका अख्तियार कर रक्खा है कि आज जीवन को सँभालना भी कठिन हो गया है। और जब गृहस्थों की आहार विधि गड़बड़ा जाती है तो उनके आश्रित रहने वाले साधु-सन्तों पर भी प्रभाव पड़ता है। आपके अपराधों का दंड उनको भी भोगने की स्थिति पैदा हो गई है।

परन्तु मरु देवी माता का क्या हाल था? उनका जीवन शोक रहित था, रोगरहित था। शोकरहित इसलिए था कि उसमें मोह

की अधिकता नही थी। जहाँ मोह का अधिक्य होगा वहां शोक का भी अतिरेक होगा और जहां भोग की प्रबलता होगी, वहां रोग का साम्राज्य होगा। मगर माताजी के अन्तःकरण में मोह अल्प था तो क्रोध भी अल्प था, मान भी अल्प था, माया भी अल्प थी और लोभ भी अल्प था। और जहां इन कषायों की अल्पता है, वहां शोक की अधिकता हो ही कैसे सकती है?

भोग और रोग दोनों मित्र हैं, सहचर हैं। भोगी को रोगी होना ही पड़ता है। आज नाना प्रकार की चीजे, जिनके विषय में पता नही कि वे कहां से आई हैं, कैसे बनाई गई है, किस जगह पैदा हुई हैं, आप बाजार में जाकर चट कर जाते हैं और जीभ की तृप्ति के लिए परिणाम को भूल जाते हैं। फिर भी मन को सन्तोष कहाँ? ऐसी स्थिति में अगर रोग नही होंगे तो क्या होगा?

माताजी को न रोग का शिकार होना पड़ा, न शोक का। उनका आहार पर पूरा-पूरा संयम था और भोगों पर भी पूर्ण नियंत्रण था। वे यह नहीं सोचती थीं कि हम तो संसारी प्राणी है, हमारे लिए कोई मर्यादा नहीं है। अतएव करोड़ों वर्ष के जीवन में भी वह नीरोग रहीं।

करोड़ वर्ष लग पाईसाता
मरुदेवीजी माताजी

अगर आपको मरुदेवी जैसी माता और नाभि जैसा पिता बनना है तो उनके जीवनादर्श को सामने रखिए। अगर आज की माताएँ अज्ञान के अन्धकार से बाहर निकल कर कल्पित माताओं के फेर में न पड़े और आदर्श माता मरुदेवी के प्रति

श्रद्धाशील होकर, आपने माता के पद को ठीक तरह सँभाल लें तो मैं समझता हूं कि इनके बहुत-से शोक-संताप स्वतः दूर हो सकते हैं। अगर माताएँ और बहिनें आहार-विहार के विषय में विवेक सीख लें तो अपने परिवार को भी नीरोग और सुखी बना सकती है। क्या खाना हितकर है और क्या अहितकर है, अगर इस बात की जानकारी माताओं को हो तो घर के आधे खर्च की पूर्ति और दवाइयों के आधे खर्च की बचत तो सहज ही हो सकती है। किस मौसिम में, किस परिस्थिति में, किस प्रकृति वाले के लिए, किस प्रकार का आहार उचित या अनुचित है, इस बात का विवेक रखकर आहार-विहार की ठीक व्यवस्था रक्खें और वह फैशन की जाल में न फँसे तो अपने और अपने परिवार का बहुत हितसाधन कर सकती है।

इसके अतिरिक्त अगर उसका कषाय भी मन्द हो तो वह शोक से भी बच सकती है।

मगर इन सब विशेषताओं का मूल उद्गमस्थल कहां है? वह है परमात्मा के चरणों में एकनिष्ठा प्रीति। चित्त में ऐसी उत्कट प्रीति नहीं है तो प्रार्थना के शब्दों से वह लाभ मिलने वाला नहीं परमात्मा के प्रति एकनिष्ठा उत्कट प्रीति होगी तो वह व्यवहार में भी प्रकट हो कर रहेगी और जीवन की व्याकुलता को शान्त कर देगी। इस प्रकार विचार कर आप अपने को प्रभु के पावन चरणकमलों में अर्पित कर देंगे तो आपके लिए अक्षय मंगल का द्वार खुल जाएगा।

लाल भवन
जयपुर
१८-३-६०

मन-मेरु की अचलता

•

अश्वसेन नृप कुल तिलो रे, वामादेवी नो नन्द ।
चिन्तामणि चित में बसे रे, दूर टले दुख द्वन्द ॥
जीव रे तू पार्श्व जिनेश्वर वन्द ॥

अभी आपने भगवान् पार्श्वनाथ की प्रार्थना की है। समय-समय पर होने वाले तीर्थंकरों की संज्ञाएँ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के निमित्त से भिन्न-भिन्न होती हैं, तथापि उनके मूल स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। सभी तीर्थंकरों का मूल स्वरूप एकसा ही है। द्रव्य में अन्तर होता है अर्थात् उनका तत्कालीन शरीर-पिण्ड पृथक्-पृथक् होता है, विभिन्न क्षेत्रों और कालों में उनकी

उत्पत्ति, साधना या मुक्ति होती है और जिन भावों की परिगणि में उनका जन्म होता है, उनमें भी अन्तर होता है। इस अन्तर के कारण उनकी संज्ञाएँ अलग-अलग होती हैं। मगर यह सारा का सारा अन्तर बाह्य परिस्थितियों का अन्तर है, संज्ञाओं का अन्तर है। जिनकी संज्ञाएँ हैं उनमें कुछ अन्तर नहीं। अन्दर के स्वरूप में कोई विसदृशता नहीं है।

स्वरूप की समानता होने पर भी संज्ञाओं की जो भिन्नता है, वह परिचय के लिए उपयोगी होती है। चिन्तन में भी उससे कुछ सहायता मिलती है। साधक के प्राथमिक चिन्तन में शब्द संज्ञा के अवलंबन की आवश्यकता होती है। जो अशब्द है, अनाम है, जिसकी कोई संज्ञा नहीं है, उसका चिन्तन साधारण साधक के लिए संभव नहीं होता। संज्ञा के साथ अन्तर्दृष्टि में जो एक विशिष्ट रूप प्रतिभासित होने लगता है, साधक के लिए वह बड़ा सहारा है। उस सहारे के बिना निरवलम्ब चिन्तन करने का सामर्थ्य पहुंचे हुए योगियों के सिवाय सब के लिए सरल नहीं होता। यही संज्ञाओं की सार्थकता है।

मगर जब हमारी दृष्टि यथार्थ वस्तुस्वरूप के चिन्तन की गहराई में पहुंचती है, तब वहां संज्ञाभेद जैसी कोई वस्तु नहीं होती। ध्याता जब क्षायिकभाव के रूप में अपने चिन्तन को केन्द्रित करता है तब समस्त तीर्थंकरों के आत्मस्वरूप में लेशमात्र भी विसदृशता नहीं मालूम होती।

अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, अनन्त सुख, क्षायिक सम्यक्त्व आदि शक्तियां, जो आत्मा की अपनी हैं और जो आवरण से पूरी तरह उन्मुक्त हो जाती हैं, सब तीर्थंकरों में समान हैं। जैसी ऋषभदेव में वैसी ही अजितनाथ में और वैसी ही भगवान्

महावीर में हैं। जैसी भरतक्षेत्र के तीर्थंकरों में, वैसी ही ऐरवत क्षेत्र के तीर्थंकरों में और वैसी ही महाविदेह क्षेत्र के तीर्थंकरों में। जैसी जम्बूद्वीप के तीर्थंकरों में, वैसी ही पुष्करार्ध के तीर्थंकरों में। यही नहीं, तीर्थंकरत्व भी आत्मा का निज स्वभाव नहीं है। वह भी कर्मजनित औपाधिक भाव है। अतएव अरिहन्त चाहे तीर्थंकर हो चाहे सामान्य केवली, दोनों के आत्मिक स्वरूप में भी कुछ अन्तर नहीं पड़ता।

कुछ ऐसी भी तीर्थंकरों की जीवनियां हैं, जहां अल्प से अल्प तपश्चरण करके, अल्प से अल्प काल तक संयम की साधना करके, कुछ ही घड़ियों तक छद्मस्थ अवस्था में रहकर ही केवल ज्ञान प्राप्त कर लिया। ऐसे भी तीर्थंकर हुए हैं जिन्होंने सहस्त्रों वर्षों तक तपस्या की, वड़ी कठोर साधनाएं की, तव कहीं जाकर उन्होंने केवल ज्ञान की प्राप्ति की।

समय की दृष्टि से ऋषभदेव का साधना काल लम्बा है। महावीर स्वामी का साधनाकाल उसकी अपेक्षा वहुत कम है। मगर तपस्या की जो उग्रता, भीषण परीषहों के सहन के जो प्रसंग और साधना की जो कठोरता महावीर के जीवन में देखने को मिलती है, उसकी तुलना नहीं हो सकती। उनकी साधना की प्रचण्डता की कथा भी सामान्य साधक के हृदय को हिला देती है। उसका वृत्तान्त सुनने मात्र से रोमांच होता है। इतनी कठिन साधना अन्य तीर्थंकरों के जीवन में देखने को नहीं मिलती। कितना प्रचण्ड तप! कैसी-कैसी मर्मान्तक दैवी और मानवीय पीड़ाएं! फिर भी वही स्थिरता, सुमेरु के समान अचल भाव!

भगवान ने अपने जीवन द्वारा साधकों के समक्ष यह आदर्श उपस्थित किया है कि हे साधक! अगर तू वास्तव में साधक है और साधना के सर्वोत्तम फल की प्राप्ति करना चाहता है, तुझे चरम

सिद्धि को उपलब्ध करना है तो इस प्रकार का सहिष्णु और क्षमामय होना होगा।

संगम देव भगवान् की काया के साथ खिलवाड़ करने को तैयार होता है। वह धूलि की वर्षा करता है। सूचीमुख कीड़ों का उपद्रव करता है। लगातार छः माह तक एक के बाद दूसरा उपद्रव करता ही रहता है। लेकिन वह महावीर अतिवीर पुरुष क्या तिल-तुष मात्र भी चलायमान होते हैं? नहीं। देहाध्यास से मुक्त भगवान् महावीर ऐसे आत्मनिष्ठ रहे मानों उन्हें पता ही न हो कि संगम क्या कर रहा है! देह में रहते हुए भी वे दैहिक भावना से परे थे। अतएव निर्दय से निर्दय दैवी प्रहार भी उन्हें प्रभावित नहीं कर सके।

देवता को अपनी दैवी—भौतिक शक्ति का बड़ा घमण्ड था, मगर आध्यात्मिक शक्ति के साथ संघर्ष करके वह स्वतः चकनाचूर हो गई। देवता चाहता था भगवान् को झुकाना, मगर उसको ही भगवान् के चरणों में झुकना पड़ा।

आप सोच सकते हैं—साहब, वह तो महावीर थे, अपरिमित शक्ति से सम्पन्न थे, भगवान् थे। वे उन कठोरतम आघातों को सहज ही सहन कर सके। मगर हम इतनी क्षमता कहां से लावें? हमारे अन्दर इतनी दृढ़ता कैसे हो सकती है? मगर इस प्रकार की दुर्बलतापूर्ण विचारधारा उचित नहीं है। किसी समय भगवान् भी आपकी जैसी ही स्थिति में थे। अगर वे आत्मोत्थान के पथ पर चलकर भगवान् का पद प्राप्त करने में समर्थ हो सके तो कोई कारण नहीं कि आप भी वह पद प्राप्त नहीं कर सकते। आखिर भक्त ही भगवान् बनता है।

भगवान् महावीर की साधना के विषय में अभी जो कहा गया है, उसका सम्बन्ध उनकी उस अवस्था से है जब वे साधक थे, आज की भाँति सर्वज्ञ, सर्वदर्शी परमात्मा का पद प्राप्त नहीं कर चुके थे। कदाचित् आपको महावीर स्वामी इतनी अधिक उच्च भूमिका पर दीखते हों कि आप उनके साथ अपनी समता की कल्पना न कर सकें, तब भी जगत में दूसरे साधक भी हुए हैं और उनके जीवन के आदर्शों को सामने रखकर आप अपनी साधना में दृढ़ता उत्पन्न कर सकते हैं। श्रमण भगवान् महावीर के अनुयायी श्रावकों को, जिनकी गौरव-गाथाएं शास्त्र में आई हैं, देखिए। उनमें कामदेव का भी वर्णन शामिल है। वह उपासकदशांग के दूसरे अध्ययन के चरितनायक हैं। ज्ञाताधर्मकथा सूत्र में अर्हन्नक श्रावक का वृत्तान्त मिलता है।

कामदेव एक गाथापति है। वह धर्मयुक्त पवित्र जीवन यापन करता हुआ अपने परिवार का और व्यवसाय का संचालन कर रहा है। मगर वह जानता है कि यदि सच्चा प्रार्थी बनना है तो अचलभाव चाहिए। अचल भाव के बिना हमारे भीतर ज्योति प्रकट नहीं हो सकती।

अचलभाव प्राप्त करने के लिए मानसिक चंचलता का नष्ट होना आवश्यक है। चंचलता तब दूर होती है जब संसार के पदार्थों को निस्सार समझ लिया जाता है। जब तक सांसारिक वैभव भी कुछ है और उसका भी कुछ महत्त्व है, यह वासना मन में बनी रहेगी, तब तक चंचलता भी मिटने वाली नहीं है, क्योंकि हम जिसका महत्त्व स्वीकार करते हैं, उसकी ओर चित्त का आकर्षण हुए बिना नहीं रहता। एक करोड़पति हीरे के बहुमूल्य आभूषण पहन कर सज-धज के साथ बगल में बैठा है और आप हीरे में महत्त्व मानते हैं, तो आपका ध्यान उसकी ओर आकर्षित

हुए बिना नहीं रहेगा। परन्तु यदि आप सादा पोशाक पहन कर बैठे हैं तो उसका ध्यान आपकी ओर आकृष्ट नहीं होगा, क्योंकि उसकी दृष्टि में सादा पोशाक का कोई महत्व नहीं है।

एक बाई कीमती आभूषण पहन कर अगर बाइयों के सामने आती है तो उनका ध्यान उसकी ओर चला जाता है और कोई साधारण वेष-भूषा वाली बाई आती है तो ध्यान नहीं जाता! इसका क्या कारण है? यही न बाइयों का चित्त आभूषणों के महत्व को स्वीकार करता है और आभूषणों के प्रति उनके मन में व्यक्त या अव्यक्त अभिलाषा मौजूद है।

इसी प्रकार जब तक आप बाहर के वैभव को सारवान् और महत्व की चीज समझते रहेंगे, आपका मन उसकी ओर आकर्षित होता रहेगा और आकर्षित होता रहेगा तो उसमें चंचलता भी रहेगी। इसके विपरीत, जब साधक सांसारिक वैभव को निस्सार समझ लेता है और भगवान् के चरणों में ही महत्ता का अनुभव करता है, तब उसके मन की चंचलता दूर हो जाती है और वह भगवत्स्वरूप में ही अखण्ड आनन्द का अनुभव करता है। उसकी चित्तवृत्ति स्थिर हो जाती है और इधर उधर भटकना बंद कर देती है।

कामदेव की यही परीक्षा हुई। परीक्षा करने वाला कोई साधारण मनुष्य नहीं, देव था। वह जांच करना चाहता था, कि कामदेव भगवान् का कैसा भक्त है और भगवद्भक्ति में कितना तन्मय है? इसके चित्त में कितनी दृढ़ता है?

देव ने अधर में खड़े होकर डरावनी आवाज में कहा—ऐ कामदेव! सुनता है कि नहीं! तू जिस वीतराग धर्म की आराधना

कर रहा है, अगर शान्ति चाहता है, खैर चाहता है और आराम चाहता है तो, कह दे कि वह गलत है। अगर ऐसा नहीं कहेगा तो मैं तुझे आसमान में उछाल दूंगा। शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दूँगा। तेरे लड़कों को काट कर फेंक दूँगा। तेरी सारी सम्पत्ति को नष्ट कर दूँगा।

इस प्रकार दिल को दहलाने वाली अनेक धमकियां उसने दी। जब कामदेव के चित्त पर धमकियों का असर न हुआ तो देव ने उनके अनुसार कार्य करना आरम्भ किया। उसने सोचा-परीक्षा करने आया हूं तो पूरी ही करूँगा। जब तक कामदेव विचलित नहीं हो जाता, मैं दम नहीं लूँगा।

तुरन्त वह देव हाथी बन गया। ऐसे समय में साधारण साधक की क्या स्थिति हो? मगर कामदेव किसी और ही धातु का बना था। वह चट्टान की तरह अचल रहा। हाथी ने उसे सूंड़ में पकड़ा और आसमान में उछाल दिया। फिर भी कामदेव अचल! उसका सम्पूर्ण ध्यान प्रभु के चरणों में है। वह सोचता है-प्रभो! तू ने अपने शत्रु पर भी और मित्र पर भी समभाव रक्खा है, निश्चलता की साधना की है और मैं तेरा ही भक्त हूं। यह मेरी परीक्षा का दिन है। मुझे साबित करना है कि मैं तेरा सच्चा भक्त हूँ, उपासक हूं। मैं सिद्ध कर दूँगा कि मैं वीतराग का शिष्य हूं। हृदय में राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होने दूँगा। समभाव से और अचल भाव से मैं परीक्षा में उत्तीर्ण होऊँगा।

हाथी ने कामदेव को आसमान में उछाला। उछलने के बाद जब वह धरती पर आ पड़ा तो हाथी ने पैरों से इस प्रकार रौंदा जैसे रसोइया आटे को मलता है। मगर कामदेव अडोल और अकम्प था!

कामदेव की काया रौंद दी जाती है, मसल दी जाती है, मगर वह अपनी ही मस्ती में है। उसके मन में एक तरंग भी नहीं आ रही है कि क्या हो रहा है! कौन क्या कर रहा है! उसके मन में यह भी नहीं हुआ कि भगवान् मैं तेरा भक्त हूं। भक्त पर घोर संकट आया है। इस समय भी अगर मेरी सहायता न करोगे तो फिर कब काम आओगे? दूसरा कौन मुझे बचाएगा? आओ, बचाओ, मेरी रक्षा करो।

कामदेव ऐसी कोई पुकार नहीं कर रहा है। वह यही सोचता है—क्या रौंदा जा रहा है? यह मिट्टी का पिण्ड जो सड़ने वाला, गलने वाला, नष्ट होने वाला और एक दिन चला जाने वाला है, रौंदा जा रहा है। मैं अखण्ड हूं। अव्यय हूं। अजन्मा हूं, अमर्त्य हूं मेरा छेदन भेदन नहीं हो सकता।

इस प्रकार विचारते हुए कामदेव ने मानो देव को चुनौती दे दी कि आजमा ले अपनी सम्पूर्ण शक्ति! कुछ कसर न रहने देना! देखता हूं तू कितना समर्थ है! जैसे एक होड़ लग गई। देव कामदेव को हराने के लिए चोटी से एड़ी तक पसीना बहाता है और कामदेव उसे पराजित करने के लिए अटलसंकल्प है। एक ओर पाशविक बल और दूसरी ओर आध्यात्मिक बल है दोनों का विकट संघर्ष है।

जब जोश आता है तो दुर्बल भी अपने को सबल अनुभव करने लगता है और ऐसा कुछ कर गुजरता है कि सामान्य अवस्था में वैसा करने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। मगर कामदेव तो दुर्बल नहीं था। वह आत्मिक शक्ति का धनी था।

हाथी विफल होता है तो देव भीषण विषधर का रूप धारण

करता है और शरीर को डँसता है। फिर भयावह राक्षस का रूप धारण करता है। नंगी तलवार लेकर लड़कों के टुकड़े-टुकड़े कर डालने की धमकी देता है और उस धमकी पर अमल करता है। फिर भी कामदेव अटल है, अचल है और परमप्रभु के ध्यान में निमग्न है।

साधारण संसारी भी जब किसी काम में पूरी तरह तन्मय हो जाता है तो बाहर की दुनियां को भूल जाता है। उसे बाह्य परिस्थितियों का भान नहीं रहता। किसान भयानक सर्दी में खेतों में काम करते हैं। तालाबों तक का पानी जम जाता है। दूसरे लोग घर से बाहर निकलने की हिम्मत नहीं करते। ऐसे समय में भी वह पानी की क्यारियों के बीच नंगे बदन बैठ कर काम करते हैं। पानी को एक ओर से दूसरी ओर मोड़ते हैं। उनके पास वैज्ञानिक साधन नहीं हैं कि रबर या लोहे के पाइप को मोड़ा और पानी मुड़ गया। उसे हाथों से ही सब कुछ करना पड़ता है। इस प्रकार कार्य करते हुए भी उन्हें सर्दी का त्रास अनुभव नहीं होता। ठिठुरन उन्हें नहीं सताती। इसका कारण क्या है? मस्ती, तन्मयता, तल्लीनता। बाग को सींचना है, खेती को पानी देना है और उससे लाभ मिलने वाला है। इस लाभ की मस्ती में ही वह सारे त्रास को भूला रहता है। और जब उस का काम पूरा हो जाता है तो पांच मिनिट भी वह ताप के बिना नहीं रह सकता। उस समय उसे सर्दी सताती है। परमात्मा के चरणों में आत्मसमर्पण करने वाला साधक भी इसी प्रकार अपनी दैहिक वेदना को भूल जाता है।

भक्त जब भक्ति के आवेश में आता है तो उसमें भी अपूर्व और अद्‌भुत शक्ति उत्पन्न हो जाती है और उस शक्ति की सहायता से वह ऐसी-ऐसी यातनाओं, पीड़ाओं को सहज-भाव

में सहन कर लेता है कि देखने और सुनने वाले दांतों तले उंगली दबाने लगते हैं। उनकी कल्पना में ही नहीं आता कि आखिर ऐसी भयावह यातनाएं कैसे सही गई होंगी ? कामदेव ने देव के उपसर्गों को किस प्रकार सहन किया होगा ?

हम जिन परीषहों के विचार मात्र से कांप उठते हैं, हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं, सही लक्ष्य निर्धारित करके जीवन को उसी ओर ले जाने वाले साधक उन्हें सहज ही जीत लेते हैं। हमें जो पथ अगम्य या दुर्गम प्रतीत होता है, निष्ठावान् साधक समझते हैं- यह पथ भी चलने वाला है। इस पर भी चला जा सकता है। वह उस पर चल पड़ता है और चलता ही जाता है। जैसे-जैसे निष्ठा बढ़ती जाती है, रस भी बढ़ता जाता है और उसकी दृढ़ता भी बढ़ती जाती है। कवि विनयचंदजी कहते हैं-

ज्यों लोभी मन धन की लालसा,
भोगी के मन भोग।
रोगी के मन माने औषधि,
जोगी के मन जोग।
धर्म जिनेश्वर मुझ हिवड़े बसो,
प्यारो प्राण समान ॥

इस प्रकार की प्रार्थना दृढ़ विचार वाले ध्याता की होती है, जो कामदेव श्रावक को अपना आदर्श समझते हैं, और उसी के चरणचिह्नों पर चलने की भावना रखते हैं। वे भगवान् के चरणों में अपनी वेदना उपस्थित करते हैं-भगवन् ! मेरे मन की स्थिति कैसी हो-

करता है और शरीर को डँसता है। फिर भयावह राक्षस का रूप धारण करता है। नंगी तलवार लेकर लड़कों के टुकड़े-टुकड़े कर डालने की धमकी देता है और उस धमकी पर अमल करता है। फिर भी कामदेव अटल है, अचल है और परमप्रभु के ध्यान में निमग्न है।

साधारण संसारी भी जब किसी काम में पूरी तरह तन्मय हो जाता है तो बाहर की दुनियां को भूल जाता है। उसे बाह्य परिस्थितियों का भान नहीं रहता। किसान भयानक सर्दी में खेतों में काम करते हैं। तालावों तक का पानी जम जाता है। दूसरे लोग घर से बाहर निकलने की हिम्मत नहीं करते। ऐसे समय में भी वह पानी की क्यारियों के बीच नंगे बदन बैठ कर काम करते हैं। पानी को एक ओर से दूसरी ओर मोड़ते हैं। उनके पास वैज्ञानिक साधन नहीं हैं कि रबर या लोहे के पाइप को मोड़ा और पानी मुड़ गया। उसे हाथों से ही सब कुछ करना पड़ता है। इस प्रकार कार्य करते हुए भी उन्हें सर्दी का त्रास अनुभव नहीं होता। ठिठुरन उन्हें नहीं सताती। इसका कारण क्या है? मस्ती, तन्मयता, तल्लीनता। बाग को सींचना है, खेती को पानी देना है और उससे लाभ मिलने वाला है। इस लाभ की मस्ती में ही वह सारे त्रास को भूला रहता है। और जब उस का काम पूरा हो जाता है तो पांच मिनिट भी वह ताप के बिना नहीं रह सकता। उस समय उसे सर्दी सताती है। परमात्मा के चरणों में आत्मसमर्पण करने वाला साधक भी इसी प्रकार अपनी दैहिक वेदना को भूल जाता है।

भक्त जब भक्ति के आवेश में आता है तो उसमें भी अपूर्व और अद्भुत शक्ति उत्पन्न हो जाती है और उस शक्ति की सहायता से वह ऐसी-ऐसी यातनाओं, पीड़ाओं को सहज-भाव

से सहन कर लेता है कि देखने और सुनने वाले दांतों तले उंगली दबाने लगते हैं। उनकी कल्पना में ही नहीं आता कि आखिर ऐसी भयावह यातनाएं कैसे सही गई होंगी? कामदेव ने देव के उपसर्गों को किस प्रकार सहन किया होगा?

हम जिन परीषहों के विचार मात्र से कांप उठते हैं, हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं, सही लक्ष्य निर्धारित करके जीवन को उसी ओर ले जाने वाले साधक उन्हें सहज ही जीत लेते हैं। हमें जो पथ अगम्य या दुर्गम प्रतीत होता है, निष्ठावान् साधक समझते हैं- यह पथ भी चलने वाला है। इस पर भी चला जा सकता है। वह उस पर चल पड़ता है और चलता ही जाता है। जैसे-जैसे निष्ठा बढ़ती जाती है, रस भी बढ़ता जाता है और उसकी दृढ़ता भी बढ़ती जाती है। कवि विनयचंदजी कहते हैं-

ज्यों लोभी मन धन की लालसा,
भोगी के मन भोग।
रोगी के मन माने औषधि,
जोगी के मन जोग।
धर्म जिनेश्वर मुझ हिवड़े वसो,
प्यारो प्राण समान ॥

इस प्रकार की प्रार्थना दृढ़ विचार वाले ध्याता की होती है, जो कामदेव श्रावक को अपना आदर्श समझते हैं, और उसी के चरणचिह्नों पर चलने की भावना रखते हैं। वे भगवान् के चरणों में अपनी वेदना उपस्थित करते हैं-भगवन्! मेरे मन की स्थिति कैसी हो-

ज्यों लोभी मन धन की लालशा,
भोगी के मन भोग।

एक हिन्दी कविता पढ़ने में आई। उसमें बतलाया गया था कि दुनिया में क्या तब्दीली हुई है? एक समय था कि भारत के लोग धर्म पर बिकते थे। समय बदला और लोग शील पर बिकने लगे। बाद में ऐसा समय भी आया कि भारतवासी रूप पर बिकने लगे। कवि कहता है- रूप पर बिकने का समय भी बीत गया। अब संकट का समय है न! अतएव अब न धर्म पर बिकना रहा, न शील पर बिकना रहा, न रूप पर ही बिकना रहा। अब जीवन चांदी के टुकड़ो पर बिकने लगा है।

धर्म पर बिकने वालों का एक उदाहरण-कामदेव का अभी आपके समक्ष प्रस्तुत किया गया है। क्या आपकी इतनी तैयारी है? आप सामायिक कर रहे हैं, ऐसे समय यदि कोई आपके कपड़े को छुए तो आप क्या कहेंगे कि ये मेरे हैं?

मध्यकाल में एक युग ऐसा भी बीता है। श्रावक पोषधव्रत या संवर में है। गले का कंठा निकालकर कपड़ों में रख दिया है। उधर एक दूसरे भाई ने वह कंठा निकाला और अवसर देखकर चलता बना। कंठा वाले श्रावक ने उसे ऐसा करते देख लिया। मगर कुछ कहा नहीं, मौन ही रक्खा। बाद में भी न उससे कुछ कहा और न किसी दूसरे के सामने ही चर्चा की।

आज इतनी क्षमता कहां हैं? किसी का जूता इधर-उधर हो जाय तो शोर मच जाएगा। मगर वहां कंठा चला गया तब भी कोई बात नहीं। चुपचाप घर चल दिए। फिर सोचा आखिर उस भाई को कंठा लेने की आवश्यकता क्यों पड़ी? वह महाजन

के घर में जन्मा, श्रावक कुल में जन्मा है, फिर उसने ऐसा क्यों किया ? इस दुष्कृत्य का उत्तरदायित्व क्या मुझ पर भी नहीं है ? मैंने उसकी आवश्यकताओं की ओर कभी ध्यान नहीं दिया। बिना अनिवार्य आवश्यकता हुए वह कैसे कंठा लेता ? मेरे पास लाखों की सम्पत्ति है, फिर भी मैंने नहीं सोचा कि मेरा एक स्वधर्मी भाई और सहधर्मी भाई मुसीबत में है। अगर मुसीबत के समय उसकी सहायता न की तो मेरी इस सम्पदा की क्या सार्थकता है ? अगर मैंने पहले उसकी सार संभाल की होती तो चोरी करने का यह पापमय प्रसंग उसके सामने न आता।

यह है कुलीन श्रावक की विचारधारा ! उसने यह नहीं सोचा कि-कितना पापी है वह जिसने धर्मस्थान में भी चोरी करने में संकोच नहीं किया। अगर उसे योग्य दंड न दिलाया गया तो चोरी के अपराध और बढ़ेंगे। अतएव उसे दंड दिलाना ही चाहिए।

आपके सामने ऐसे मामले नहीं आते कि जब लोग अपराध करने की वृत्ति से नहीं, बल्कि लाचारी के कारण अपराध करने में प्रवृत्त हुए ? आते हैं और आप जानते भी हैं। मगर आपकी बढ़ी हुई अर्थतृष्णा इस संबंध में आपको विचार नहीं करने देती। आप उनके प्रतीकार के लिए समुचित उत्सर्ग करने को तैयार नहीं होते। इस कारण परिस्थिति विषम से विषमतर होती जा रही है। वर्गसंघर्ष का बीज यही है। कुछ भी हो, भगवान् के भक्तों का यह मार्ग नहीं होता।

भगवान् का भक्त था कंठा वाला सेठ। उसने कंठे पर से अपना मन हटा लिया। न कुछ कहा, न उसके विषय में चिन्ता की। उधर जिसने उस कंठे को लिया था, उसने कंठे के द्वारा

अपनी आवश्यकता की पूर्त्ति की। उसे गिरवी रख कर कारोबार किया। कुछ कमाई हुई तो कंठा गिरवी से छुड़ा लिया। तत्पश्चात् उसने विचार किया-थोड़ी बहुत जो भी पूंजी मेरे पास हो गई है, उसी के सहारे मैं अपना निर्वाह कर लूंगा और परिवार को पाल लूंगा। यह कंठा मेरा नहीं है। जिसका है उसे लौटा देना चाहिए। इस प्रकार विचार कर वह कंठा लेकर गया और उन सेठजी से कहा-लीजिए साहब, यह आपका कंठा।

सेठ—भाई, यह मेरा कहाँ है। आप लाए हैं।

आगन्तुक-नहीं, यह आपका ही है। उस दिन पोषध के समय मैंने उठा लिया था।

सेठ—मगर अब तो यह आपका ही है।

आग०—सेठ साहब ! मेरी चित्तवृत्ति बिगड़ गई थी, किन्तु मजबूरी के कारण ही मैंने चोरी की थी। इसके वास्तविक स्वामी तो आप ही हैं।

ऐसे होते हैं भगवान् के भक्त, जीवन के साधक, वीतराग की राह पर चलने वाले। ऐसे साधक असाधारण प्रसंगों पर भी अपनी लोकोत्तर सहनशीलता का परिचय देते हैं। उनके लिए कठिन अवसर पर भी अविचल रहना कठिन नहीं होता। ऐसे साधक धर्म पर बिकने वाले कहलाते हैं।

शील पर बिकने के उदाहरण भी भारतीय इतिहास में प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। मेवाड़ और चित्तौड़ का इतिहास इसके जीते-जागते उदाहरण है। वहाँ अपने शील की रक्षा के लिए सैकड़ों नारियाँ जीवित जल मरी।

रूप पर बिकने वाले वह हैं जो अपने शृंगार और सौन्दर्य वर्द्धन में हजारों-लाखों फूंक देते हैं। घंटों प्रतिदिन उसमें व्यय करते हैं। एक-एक के नवाबी ठाठ का क्या पूछना है! अपने शरीर पर तो लगाएँ सो लगाएँ ही, अपनी साहिबी, बड़प्पन और शान दिखाने के लिए बढ़िया से बढ़िया इत्र लेकर अपने घोड़े के शरीर पर भी लगाएँगे। इस प्रकार की शान-शौकत दिखाने का भी एक युग आया था। यह रूप पर बिकना ही है।

कवि कहता है—अब संकट का समय आया है। संकट के समय में धर्म भी गया, शील भी गया और रूप भी गया। इस समय का जीवन पैसे पर बिक रहा है। पैसे के लिए बंगाल जाएँगे, आसाम और मद्रास जाएँगे, जब तक शरीर जर्जरित नहीं हो जाएगा, जाना नहीं छोड़ें। तपेदिक की बीमारी हो जाएगी, दम फूल जाएगा, हड्डी पसली गल जाएगी, पर वहां तो जाएँगे ही, सारा जीवन धन-देव के चरणों में समर्पित है। लोगों के लिए आज धन साधन नहीं, साध्य बन गया है। धन के लिए आत्मा का हनन हो तो हो, पतन हो तो हो, नरक का पात्र बनना पड़े तो भले बनना पड़े। मगर धन चाहिए!

आश्चर्य है कि लोग धन के लिए जीवन का बलिदान कैसे सहन कर लेते हैं? दीपक पर पतंग की तरह क्यों धन के लिए मरते हैं? चांदी-सोने के टुकड़े क्या जीवन को विकास दे सकते हैं? धन वास्तव में जीवन का घुन है। फिर क्यों लोगों ने उसी को अपने जीवन का सर्वस्व और सर्वोपरि साध्य समझ लिया है? धर्म और शील भले जाय पर धन आना चाहिए। इस मनोवृत्ति का कारण लोभवृत्ति ही है। लोभवृत्ति मनुष्य की विचारशक्ति को कुंठित कर देती है, नष्ट कर देती है।

तो विनयचंदजी कहते हैं—जैसे धन का लालची लोभ के वशीभूत होकर धन के लिए अपने तन, परिवार, धर्म, सुख और आत्मा तक को बेच देता है, उसी प्रकार प्रभो ! मेरे अन्तःकरण में तेरे चरणों का लोभ जागृत हो जाय। मैं तेरे चरणों को प्राप्त करने के लिए अपना सर्वस्व त्याग सकूँ

लोभी के मन धन की लालसा,
भोगी के मन भोग।
रोगी के मन माने औषधि,
जोगी के मन जोग।
धर्म जिनेश्वर मुझ हिवड़े वसो,
प्यारो प्राण समान।

हे प्रभो ! जैसे लोभी के मन में धन की ही एक मात्र लालसा रहती है, भोगी को सोते-जागते भोग ही भोग की चिन्ता रहती है और भोग भोगे विना उसे चैन नहीं पड़ती और रोगी को जैसे औषध की ही धुन लगी रहती है, उसी प्रकार मेरी लालसा, चिन्ता और धुन तेरे चरणों में हो।

कितनी सुन्दर भावना है ! परमात्मा के प्रति कैसी अनन्य प्रीति है ? मगर केवल शब्दों के उच्चारण से कोई खास लाभ होने वाला नहीं है। भले ही आप ऊँचे स्वर से बोलें और सब मिलकर बोलें, मगर जब तक इस भावना को अन्तःकरण में न रमाएँगे, जीवन में ओतप्रोत न कर लेंगे और इसी भावना के अनुसार न चलेंगे, तब तक आपकी आत्मा का उत्थान न होगा।

इसके विपरीत अगर आप तन में, धन में, स्वजनवर्ग में तथा भोगोपभोगों में न उलझ कर भगवान् के चरणों में यदि एक-

निष्ठ हो जाएँगे तो सदा के लिए चल-दशा समाप्त हो जाएगी और अचलभाव उत्पन्न हो जाएगा। फिर दुनियां की जबर्दस्त से जबर्दस्त कोई भी ताकत आपको विचलित नहीं कर सकेगी। आपके मन के मेरु को कोई चंचल नहीं कर सकेगा इसी स्थिति की प्राप्ति में जीवन की सफलता है, आत्मा की सफलता है। जो अविचल दशा प्राप्त करेगा वह सुख-शान्ति का अधिकारी होगा।

लाल भवन
जयपुर
१९-३-६०

पर्दा दूर करो

•

प्रार्थना करने का मुख्य हेतु आत्मा में विद्यमान परन्तु प्रसुप्त शक्तियों को जागृत करना है। कल्पना कीजिए, यदि माचिस की तूली से प्रश्न किया जाय कि तू आगपेटी से क्यों रगड़ खाती है, तो क्या उत्तर मिलेगा ? उत्तर होगा-जलने के लिए, अपने तेज को प्रकट करने के लिए।

अगर उस तूली को आगपेटी से रगड़ने के बदले किसी पत्थर मे रगडा जाय तो कोई फल नहीं होगा बल्कि उसकी शक्ति घट जाएगी। यही कारण है कि कोई समझदार तूली जलाने वाला उसे पत्थर से नहीं रगड़ता।

मनुष्य की चित्तवृत्ति चेतना तूली के समान है और मनुष्य तूली रगड़ने वाले के समान। यहां भी यही प्रश्न उपस्थित होता है कि आखिर चित्तवृत्ति को परमात्मा के साथ क्यों रगड़ा जाता है? परमात्मा के चरणों के साथ उसे किसलिए घिसा जाता है? तब साधक का भी यही उत्तर होता है-जलने के लिए अपने तेज को प्रकट करने के लिए।

तूली और मानवीय चित्तवृत्ति में इतनी समानता होने पर भी एक बड़ा अन्तर है। तूली के संघर्षण से उत्पन्न होने वाला तेज सादि और सान्त है, परन्तु जब मनुष्य की चित्तवृत्ति परमात्मा के साथ रगड़ खाती है और उससे जो चैतन्यमय तेज आविर्भूत होता है, वह सादि होकर भी सान्त नहीं होता, अनन्त होता है। वह तेज एक बार जब पूर्ण रूप से जाज्वल्यमान हो जाता है तो बुझना नहीं जानता। साथ ही वह तेज समस्त देश और काल की परिधियों को लांघ कर असीम होता है। अखिल दृश्य और अदृश्य जगत् उसमें उद्भासित हो उठता है।

संसारी जीव ने अपनी तूली (चित्तवृत्ति) को कभी धन से, कभी तन से और कभी अन्य सांसारिक साधनों से रगड़ते-रगड़ते अल्पसत्त्व बना लिया है। अब उसे होश आया है और वह चाहता है कि तूली की शेष शक्ति भी कहीं इसी प्रकार बेकार न चली जाय। अगर वह शेष शक्ति का सावधानी के साथ सदुपयोग करे तो उसे पश्चात्ताप करके बैठे रहने का कोई कारण नहीं है, उसी बची-खुची शक्ति से वह तेज को प्रस्फुटित कर सकता है, क्रमशः उसे बढ़ा सकता है और पूर्ण तेजोमय भी बन सकता है। वह पिछली तमाम हानि को भी पूरी कर सकता है।

चित्तवृत्ति की तूली को परमात्मा के साथ रगड़ने का विधिपूर्वक किया जाने वाला प्रयास ही प्रार्थना है।

इसके विपरीत जो अब भी होश में नहीं आया है और अब भी अपनी मनोवृत्ति को परमात्मा में न लगा कर धन-जन आदि सांसारिक साधनों में ही लगा रहा है, वह उस मूर्ख के समान है जिसने पत्थर पर रगड़-रगड़ कर अधिकांश तूलियों को बेकार कर दिया है और बची-खुची तूलियों को भी उसी प्रकार नष्ट करना चाहता है वह हाथ मलता रह जाएगा। पश्चात्ताप करने से भी कोई लाभ हासिल नहीं कर सकेगा।

जन्म से लेकर आज तक हमारी चित्तवृत्ति सांसारिक पदार्थों के साथ रगड़ खाती रही है और अब भी खा रही है। जड़ पदार्थों के साथ रगड़ने का परिणाम क्या हुआ? वह अपनी शक्ति को गँवाती,रही है। अब रगड़ते-रगड़ते मसाला खत्म होने को आया, तब साधक अगर जाग गया सावधान हो गया और उसने विचार किया-मेरी शक्ति किधर जा रही है? मेरी शक्ति का इतना पुंज समाप्त हो जाने पर भी परिणाम कुछ दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है।

इस प्रकार का विचार उत्पन्न होते ही मानों वह सोते से जाग उठा। उसे भान आया। उसने सोचा-ओह, मुझे चित्तवृत्ति की तूली को जहाँ रगड़ना चाहिए, वहाँ नहीं रगड़ा और जहाँ नहीं रगड़ना था, वहाँ रगड़ा है।

आत्मा के लिए परमात्मा सजातीय और जड़ पदार्थ विजातीय हैं। सजातीय द्रव्य के साथ रगड़ होने पर ज्योतिप्रकट होती है और विजातीय के साथ रगड़ होने से ज्योति घटती है। विश्व के मूल में जड़ और चेतन दो ही तत्व हैं। चेतन का चेतन के साथ संबंध होना सजातीय रगड़ है और जड़ के साथ संबंध होना विजातीय रगड़ है।

साधारणतया आप देखते हैं कि एक समझदार और विद्वान् पुरुष जब मूर्ख के साथ अपना दिमाग लगाता है तो उसकी विद्वत्ता मुरझाती है, विकसित नहीं होती और जब वह सत्संग में बैठ कर विद्वानों के साथ संवाद करता है तो उसकी विद्वता का विकास होता है। उक्ति प्रसिद्ध है–'वादे-वादे जायते तत्त्वबोधः।'

ज्ञानी पुरुषों के साथ तत्त्वविमर्श करने से ज्ञान की वृद्धि होती है। उनके साथ किया हुआ विचार विमर्श संवाद कहलाता है और जब मूर्खों के साथ माथा रगड़ा जाता है तो वह विवाद का रूप धारण कर लेता है और शक्ति का वृथा क्षय होता है। कलह, क्रोध और हिंसा की वृद्धि होती है। तकरार बढ़ती है और पल्ले की शान्ति भी समाप्त हो जाती है।

अभिप्राय यह हुआ कि सजातीय में भी अपनी चेतना की अपेक्षा अधिक विकसित चेतना के साथ यदि रगड़ होगी तो विकास होगा और यदि कम विकसित या मुरझाई हुई चेतना के साथ रगड़ होगी तो हमारा आत्मिक विकास नहीं होगा। अतएव हमारी प्रार्थना का ध्येय है–जिन्होंने अज्ञान का आवरण छिन्न-भिन्न कर दिया है, मोह के संतमस को हटा दिया है, अतएव जो वीतरागता और सर्वज्ञता की स्थिति पर पहुँचे हैं, जिन्हें अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त बल और अनन्त शान्ति प्राप्त हुई है, अनन्त सुख सम्पत्ति का भंडार जिनके लिए खुल गया है, उन परमात्मा के साथ रगड़ खाना और इसका आशय है अपने अन्तर की ज्योति को जगाना।

वह ज्योति कहीं से उधार या खरीद कर नहीं लानी पड़ती। वह आत्मा में ही विद्यमान है; मगर आवरणों की सघनता के कारण वह दबी हुई है, छिपी हुई है। उसे ऊपरी दृष्टि से हम

देख नहीं पाते। तिल के दाने में तेल मौजूद है, मगर उसकी अभिव्यक्ति के लिए रगड़ की आवश्यकता होती है। बिना रगड़ के वह नहीं निकलता। तिल के दानों को लेकर बच्चा यदि किसी पत्थर से धमाधम कूटने लगे तो भी क्या होगा? तब भी वह ठीक तरह से नहीं निकलेगा। वह काम नहीं आ सकेगा। इसी प्रकार दूध में मक्खन है, दही में मक्खन है और दियासलाई में आग मौजूद है। फिर इन सबको रगड़ की अपेक्षा रहती है, मंथन की अपेक्षा रहती है।

मगर मथने की भी एक विशिष्ट-विधि होती है। ठीक मथनी हो और जानकार मंथन करने वाला हो तो ही दही में से मक्खन निकलता है। अगर आपको मथनी पकड़ा दी जाय तो मक्खन निकाल सकेंगे? नहीं, जो मंथनक्रिया में अकुशल है, वह नहीं निकाल सकता। यद्यपि दूध-दही में मक्खन दीखता नहीं है, फिर भी कुशल मन्थनकर्त्ता कुछ ही मिनटों में विधिपूर्वक मथानी घुमा कर मक्खन निकाल लेता है।

प्रार्थना भी मथनी घुमाना है; मगर जैसा कि अभी कहा गया। वह विधिपूर्वक होना चाहिए। सर्वप्रथम तो उद्देश्य स्पष्ट होना चाहिए। जैसे मथनी घुमाने का उद्देश्य नवनीत प्राप्त करना है, उसी प्रकार प्रार्थना का उद्देश्य परमात्मभाव रूप मक्खन को प्राप्त करना है। मन्थनध्वनि के समान जब प्रार्थना की वाणी प्रस्फुटित होती है और जब विधिपूर्वक मन-मथानी से मन्थन किया जाता है, तब परमात्मभाव रूप नवनीत प्राप्त होता है।

जैसे दही नवनीत सजातीय हैं; उनके मूल में अन्तर नहीं है, उसी प्रकार आत्मा और परमात्मा भी मूलतः एक ही हैं। जैन-दर्शन आत्मा की अलग और परमात्मा की अलग जाति स्वीकार

नहीं करता। फिर भी दोनों के परिणमन पृथक्-पृथक् हैं। इस अंतर को दूर करना ही साधना और प्रार्थना का प्रयोजन है। जिसे विधिपूर्वक मनोमन्थन करने से मक्खन मिल गया है वह परमात्मा है और जो उस मक्खन को नहीं प्राप्त कर पाया है, वह आत्मा है। जिस आत्मा में ज्ञान-आनन्द रूप नवनीत को प्राप्त करने की प्रबल भावना जाग उठी है, वह साधना के क्षेत्र में अवतीर्ण होता है। वह परमात्मा के चरणों का शरण ग्रहण करके उसके स्वरूप का और फिर स्वरूप के माध्यम से निजस्वरूप का चिन्तन करता है, स्मरण करता है, उसमें तल्लीन होकर रमण करता है और इस प्रकार अपने विशुद्ध चैतन्यस्वरूप को विकसित और प्राप्त कर लेता है।

साधक इस उद्देश्य को समक्ष रख कर जब साधना के क्षेत्र में पांव रखता है तो उसके मन में से संकोच हट जाता है। वह यह नहीं सोचता कि मैं पूर्ण विशुद्ध स्वरूप के साथ रगड़ करने का कैसे अधिकारी हो सकता हूं; वह बिलकुल निष्कलंक और मैं कलंक-कालिमा से पुता हुआ! मुझ में काम, क्रोध, मद, मोह, मान, माया आदि दोष हैं, विविध प्रकार की अज्ञानमय-वृत्तियां वर्तमान हैं। मैं उस शिवस्वरूप सिद्धस्वरूप के साथ कैसे रगड़ खाऊँ? मेरी-उसकी क्या समता है?

पर नहीं, साधक और प्रार्थी जब अपने को परमात्मा के चरणों में रगड़ने के लिए प्रस्तुत करता है तो कहता है-प्रभो! मेरी वर्त्तमान योग्यता को नहीं देखना है, बल्कि मेरी शक्ति को देखना है। आपको जिस शक्ति की अभिव्यक्ति हो चुकी है, सत्ता रूप में वही मुझ में है। मगर वह सोई हुई शक्ति आप के साथ रगड़ किये बिना जागती नहीं है। इसी विश्वास और इसी आशा से मैं आपके चरणों में प्रस्तुत हुआ हूँ।

लोहे का टुकड़ा स्वर्ण बनने के लिए और मूल्यवान् बनने के लिए जैसे पारस के पास पहुंचता है और हीरे का कण अपनी चमक बढ़ाने के लिए कसौटी के निकट पहुंचता है, उसी तरह मैं भी हे प्रभो ! तेरे पास आया हूं। अतएव—

प्रभु मेरे अवगुण चित न धरो.
स्वामी मेरे अवगुण चित न धरो।
समदर्शी है नाम तिहारो, चाहे तो पार करो।
प्रभु मेरे० ॥

इक लोहा ठाकुर पूजा में,
इक घर बधिक परचो।
पारस गुण अवगुण न विचारे,
कंचन करत खरो ॥ प्रभु मेरे० ॥

क्या कहता है भक्त अपने को अर्पित करता हुआ ? वह अन्तःकरण को खोल कर, निष्कपट भाव से, प्रभु के चरणों में उंडेल देता है। कहता है–प्रभो ! तुम समदर्शी कहलाते हो। कोई कुल की दृष्टि से, कोई बल की दृष्टि से, कोई सत्ता और अधिकार आदि की दृष्टि से किसी को ऊँचा और किसी को नीचा समझता है। मगर तुम तो किसी को ऊँचा व किसी को नीचा नहीं मानते। तुम्हारा यह स्वभाव ही नहीं है। तुम तो जीव के मूल स्वभाव को जानते हो। तुम्हारा सिद्धान्त तो यही बतलाता है कि इस बच्चे में भी जिसे लिखना, पढ़ना अथवा बोलना भी नहीं आता, अनन्त ज्ञान का भण्डार भरा है। उसमें भी अनन्त ज्ञानी और परमज्योतिर्मय देव विराजमान है।

और बालक की बात भी छोड़िए। आखिर वह भी मनुष्य है और पांच इन्द्रियों का तथा मन का धनी है। उससे भी छोटे और नीचे स्तर के जीवधारियों को लें। एक कीड़े को लें या एकेन्द्रिय जीव पर ये ही विचार करें। उसकी चेतना एकदम सुप्त है, वह रोना नहीं जानता, हँसना भी नहीं जानता, चलना फिरना भी नहीं जानता। फिर भी उसमें परमात्मिक शक्तियाँ विद्यमान हैं। वही शक्तियां जो आदिनाथ में, पार्श्वनाथ में और महावीर में हैं।

तो भक्त कहता है—

समदर्शी है नाम तिहारो।

प्रभो! आप समदर्शी कहलाते हैं तो मुझे भी पार कर दो, मुझे भी उसी पूर्णता पर पहुंचा दो।

कोई कह सकता है—अरे तू पार करने की मांग करता है परन्तु जरा अपनी ओर तो देख! अपने रूप को देख कि तू कैसा है?

प्रार्थी कहता है—भाई, बात तुम्हारी सच्ची है। मैं अशुद्ध हूँ। कलंकित हूँ, कल्मषग्रस्त हूँ, मगर यह भी तो सत्य है कि ऐसा होने के कारण ही यह प्रार्थना कर रहा हूँ। अशुद्ध न होता तो शुद्ध होने की प्रार्थना क्यों करता? कलंकित न होता तो निष्कलंक होने की मांग क्यों करता? जो शुद्ध है, बुद्ध है और पूर्ण है उसे प्रार्थना की दरकार ही नहीं होती।

एक छोटा सा नाला-अत्यन्त गँदले पानी का नाला, जब गंगा की धारा के साथ मिलता है और गंगा उसे थोड़ी दूर तक संग

संग ले जाती है, तो वह गंदा पानी, गटर का पानी भी गंगाजल बन जाता है। उसकी मलीनता गंगाजल से धुल जाती है। मगर ऐसा होगा तभी जब वह कुछ क्षणों तक गंगा के साथ मिलकर चलेगा।

तो प्रार्थना में हमें क्या करना है? परमात्मा के स्वरूप के साथ मिलकर चलना है।

प्रार्थना में आप बोलते रहे कि—प्रभो! आपमें राग नहीं, द्वेष नहीं, रोष नहीं, आप वीतराग हैं, परन्तु आपका रंग भगवान् के रंग में न मिल रहा हो, आप उनके शब्दों के साथ न चल रहे हों, तो वैसी निर्मलता आप कैसे प्राप्त कर सकते हैं? अगर आप गंगा रूप बनाना चाहते हैं तो अपने आपको गंगा जी की धारा में परमात्मस्वरूप में मिलाकर कुछ समय तक संग-संग चलना पड़ेगा। ऐसा किया तो आपकी मलीनता दूर हो जाएगी और आप में निर्मलता आ जाएगी।

लोग कहते हैं—दस वर्ष हो गए, बीस वर्ष हो गए, पच्चीस वर्ष हो गए सामायिक करते-करते, ध्यान करते-करते प्रार्थना करते करते, फिर भी मैल दूर नहीं हुआ, ज्योति प्रगट नहीं हुई। मगर कभी यह भी सोचा कि इसका वास्तविक कारण क्या है? कारण यही है कि चित्त कहीं और रहता है और मुँह से शब्द निकलते रहते हैं।

आप देखते होंगे दिल्ली और उज्जैन जैसी नगरों में एक ओर नदी की निर्मल धारा प्रवाहित हो रही है और उसके निकट गटर का नाला बह रहा है। दोनों पास-पास चल रहे हैं, थोड़ा-

का ही अन्तर है। ऐसी स्थिति में वह नाला मीलों चलता रहे तो भी क्या गटर का पानी साफ हो सकेगा? साथ-साथ चल रहे हैं, फिर क्यों नहीं नाले का पानी स्वच्छ हो जाता?

बड़े शहरों में गटर-सिस्टम होता है। गंगा और यमुना में शहरों की गंदगी के नाले हैं। वे पानी के बीच में होकर निकल जाते हैं। गटर-सिस्टम के वे बड़े-बड़े नल नदियों के पुलों के नीचे से भी निकलते हैं। अब जरा सोचिए कि गंगा और जमना के पानी के बीच में होकर जाने वाले नलों में जो गंदा पानी बह रहा है, वह निर्मल क्यों नहीं बन जाता? नदी के बीच होकर जाने पर भी वह निर्मल नहीं होता। इसका कारण यही है कि उस गंदे पानी और गंगा-यमुना के निर्मल पानी के बीच में पर्दा मौजूद है, व्यवधान है, समीपता होने पर भी पार्थक्य है। अगर बीच का पर्दा हट जाय तो उसे मीलों साथ चलने की आवश्यकता नहीं। दो-चार फर्लांग चलने से ही उसकी मलीनता मिट जाएगी और वह नदी के नीर की तरह ही निर्मल हो जाएगा। यही बात हमें अपने विषय में समझनी है।

अगर हम अपने अन्तःकरण को परमात्मा में मिलाकर एक-रूप नहीं कर देते, आत्मा और परमात्मा के बीच व्यवधान बना रहने देते हैं तो दस, बीस वर्ष तक क्या, अनेक जन्मों तक चलने पर भी परमात्मरूप नहीं बन सकते। हमारी मलीनता दूर नहीं हो सकती। वह तो तभी दूर होगी जब दोनों के बीच का पर्दा हट जाय, दोनों में कोई व्यवधान न रह जाय और हम अपने चित्त को परमात्मा के विराट स्वरूप में तल्लीन कर दें।

कुछ दिनों पहले मर्दु नमली का उदाहरण आपके सा...

रक्खा था। वह छह महीनों तक भयानक हिंसाकृत्य में रचा-पचा रहा, मगर जब भगवान् महावीर के चरणों में जा पड़ा और उनकी विचारधारा में मिल कर बहने लगा, अपना आपा खोकर तन्मय हो गया तो उसे शुद्ध बुद्ध और निर्मल होते क्या देर लगी ? सारा मैल धुल गया।

इसी प्रकार आप भी अपने अन्तःकरण को वीतराग-स्वरूप के साथ संजो कर और बीच के समस्त पर्दों को हटा कर चलोगे तो वीतराग बन जाओगे प्राचीन सन्त ने कहा है—

> मैं जानूं हरि दूर है, हरि हिरदे के मांहि।
> आड़ी टाटी कपट की, तासें सूझत नाहिं॥

भगवान् बहुत दूर नहीं हैं, बल्कि अत्यन्त निकट हैं। प्रश्न होता है कि निकट हैं तो दिखाई क्यों नहीं देते ? इस प्रश्न के उत्तर में सन्त कहता है-दोनों के बीच एक टाटी खड़ी है-पर्दा पड़ा हुआ है, इसी कारण वह दिखाई नहीं देता। अगर पर्दा हट जाय तो वह दिखाई देने लगेगा। यही नहीं, वह अपने ही भीतर प्रतिभासित होने लगेगा।

जीव शिव से मिलने गया-परमात्मा से मिलने चला परन्तु पर्दा रख कर चला तो ? उसने समझा-मैं बड़ा साधक हूं, बड़ा ज्ञानी हूं, धनी हूं, ओहदेदार हूं। इस प्रकार माया का पर्दा रख कर गया और इस रूप में भले ही वीतराग के साथ प्रार्थना की रगड़ की, तब भी क्या वीतरागता प्राप्त की जा सकेगी ? नहीं, क्योंकि बीच में पर्दा जो रह गया है। पर्दे की विद्यमानता में

एठ से आप जो ज्योति जगाना चाहते हैं, वह नही जाग सकती। अतएव पर्दे को हटाना आवश्यक है। आप ऐसा करेंगे तो परम शान्ति पा सकेंगे, परम ज्योति जगा सकेंगे, परमानन्द प्राप्त कर सकेंगे।

लाल भवन
जयपुर
२१-३-६०

जीवन का मोड़–इधर से उधर



अभी-अभी आपने भगवान् महावीर की प्रार्थना की है। प्रार्थना में क्या खूबी है, इस विषय में काफी कुछ कहा गया है। आज भी इसी सम्बन्ध में कहने की इच्छा है।

प्रार्थना के द्वारा दो उद्देश्य सिद्ध किये जाते हैं:—परमात्मस्वरूप की झांकी देखना और आत्मस्वरूप की झांकी करना। साधक पहले-पहल परमात्मस्वरूप की झांकी देखता है और फिर आत्मस्वरूप की भी झांकी उसे मिल जाती है।

आत्मस्वरूप की झांकी का रूप एक नहीं होता। साधक की अनुभूति-शक्ति की तारतम्यता के अनुसार उसके विविध स्तर होते

है। प्राथमिक स्थिति में साधक अपने विषय में यही सोचने का प्रयत्न करता है कि मैं क्या कर रहा हूँ और मेरा आदर्श स्वरूप क्या है?

इसी प्रार्थना करते भगवान् महावीर के विषय में आप कह रहे हैं कि—'भगवान्! आपने जैसे अर्जुन माली को तारा, गौतम को तारा और चन्दना को तारा उसी प्रकार अपने को भी तारा।' इस प्रकार एक ओर भगवान् के जीवन का प्रतिबिम्ब देखा जाता है तो दूसरी ओर अपने जीवन का भी प्रतिबिम्ब देखना होता है। अपने जीवन के प्रतिबिम्ब को किस प्रकार देखा जाता है, इस सम्बन्ध में एक उदाहरण दशवैकालिक सूत्र का लीजिए। वहां बतलाया गया है कि सच्चा साधक प्रातःकाल के समय ध्यान करे और विचार करे कि:—

कि मे कडं किं च मे किच्चसेसं।

साधक अपने अन्तःकरण के आइने में यह देखे कि आज तक मैंने क्या किया है और क्या मुझे करना शेष है? मैंने तन-बल, धन-बल, बुद्धिबल और जनबल पाया। इन बलों को प्राप्त करके मुझे क्या करना चाहिए था और मैं कर क्या रहा हूँ? आज तक मैंने क्या किया है? मेरी मंजिल क्या है? उस ओर कितने कदम आगे बढ़ा हूं? कितना और आगे चलना शेष है? आदि।

तू कौन कहाँ से आया है?
अब गमन कहाँ मन भाया है।
टुक सोच यह अवसर पाया है।
भज वीर प्रभु भज वीर प्रभु।

उठ भोर भई टुक जाग सही,
भज वीर प्रभु भज वीर प्रभु।

यह अपना प्रतिविम्ब आइने में देखने का तरीका है। यहां यह विचार करने की प्रेरणा की गई है कि—हे आत्मन्! जरा सोच कि तू कौन है? कहाँ से आया है? तुझे क्या सामग्री मिली है और उसका तू क्या उपयोग कर रहा है? यही बात दशवैकालिक सूत्र की चूलिका के अनुसार कही गई थी—

किं मे कडं किं च मे किच्चसेसं,
किं सक्कणिज्जं न समायरामि ?

भगवान् ने यह प्रेरणा साधु को दी, साध्वी को भी दी, श्रावक और श्राविका को भी दी कि—हे साधक! परमात्मा का निर्मल स्वरूप तेरा आदर्श है। अगर तू उस स्वरूप के साथ अपना मिलान नहीं करेगा तो तेरी शक्ति नहीं बढ़ेगी। अगर तू अपने स्वरूप की परमात्मस्वरूप के साथ तुलना करेगा कि उनका स्वरूप क्या है और मेरा स्वरूप क्या है, वे कहां पहुंचे हैं और मैं कहाँ हूँ, उन्होंने क्या किया और मैं क्या कर रहा हूं? तो तेरी आत्मा में अपूर्व जागृति आएगी। इस प्रकार की तुलना करने के लिए प्रार्थना बीच का जरिया है, बीच की कड़ी है। तुलना करने से कितनी जागृति आ जाती है, इस तथ्य को समझाने के लिए ज्ञानियों ने एक उदाहरण दिया है—

एक भेड़ पालने वाले को जंगल में एक दिन सिंह का बच्चा दिखाई दिया। नवजात शिशु था और सिंहिनी का संरक्षण उस समय उसे प्राप्त नहीं था। सिंह-शावक को एकाकी पाकर उसका

ने पकड़ गया और उसने उसे पकड़ लिया। उसको पालतू बनाने के लिए वह ले गया और भेड़ों के साथ ही रखकर उसका पालन करने लगा। भेड़ों के नन्हे-नन्हे बच्चों के साथ ही वह रहता, दूध पीता, क्रीड़ा करता, जंगल में जाता और वापिस आ जाता।

इस प्रकार कुछ समय बीता। सिंह का बच्चा कुछ सयाना हुआ। भेड़-पालक अपने को बड़ा बुद्धिमान् मानता और दूसरे गड़रियों के सामने अपने गौरव को प्रकट करने से नहीं चूकता था। वह बड़े गर्व के साथ कहता—देखो, मैंने भेड़ के बच्चों के साथ शेर के बच्चे को भी पाला है। कान पकड़ कर उसे इधर-उधर घुमा भी सकता हूँ।

सिंह के बच्चे को भान नहीं था, होश नहीं था। वह अपना भाव भूला हुआ था। भेड़ों के निरन्तर संसर्ग के कारण वह अपने को भी भेड़ ही समझने लगा था। उन्हीं को अपना परिवार समझता था और भेड़-पालक को ही अपना पालक-पोषक और संरक्षक मान रहा था।

लम्बे समय तक यही क्रम चलता रहा। एक बार वर्षा का मौसम था, उमड़-घुमड़ कर मेघों ने सघन घटाओं का रूप धारण कर लिया। बूंदें पड़ीं और गहरी वर्षा होने लगी। वर्षा और बादलों के कारण धूप का नाम-निशान न था। साधारणतया सिंह अँधेरा होने पर शिकार के लिए निकलता है, मगर उस दिन बादलों के कारण जल्दी ही निकल पड़ा। उसने देखा, भेड़ों का झुंड सामने है और वह उसी ओर लपका।

भेड़ पालक ने सिंह को लपकते देख ललकार मारी और सब भेड़ें तथा गड़रिया, जो आसपास में थे, भागे। गड़रियों और भेड़ों

को भागते देख शेर ने दहाड़ मारी। दहाड़ सुन कर वे और अधिक तेजी के साथ गाँव की ओर दौड़े। मगर इस दौड़ में सिंह का वह बच्चा पीछे रह गया। शेर दूसरी वार दहाड़ा तो बच्चे ने मुड़ कर पीछे की ओर देखा। उसे सिंह का रूप-रंग अपने से मिलता-जुलता प्रतीत हुआ। उसने अपने पंजों का उसके पंजों से मिलान किया। दोनों के पंजे भी मिलते-जुलते थे। उसके मन में एक नयी विचारधारा बहने लगी-मेरा आकार-प्रकार भेड़ों से नहीं मिलता। उनका रंग-रूप और प्रकार का है, मेरा और प्रकार का। हो न हो, मैं भेड़ जाति का नहीं, इसी जाति का हूं। मैं बोल कर अपनी जाति की परीक्षा क्यों नहीं कर लूं? तब उसने पूरा जोर लगाकर आवाज की—आवाज शेर की दहाड़-सी ही थी। उसे निश्चय हो गया कि मैं भेड़ नहीं, शेर हूँ।

उधर गड़रिया ने देखा—सब गाड़रें गांव की ओर भागती जा रही हैं, मगर वह बच्चा नहीं है। यह देख वह वापिस लौटा तो बच्चे की दहाड़ और गुर्राहट सुनकर स्तब्ध रह गया। निराश हो गया और समझ गया कि अब यह मेरे वश का नहीं है। इस पर मेरा काबू अब नहीं रह सकता।

एक समय था कि गड़रिया कान पकड़ कर उसे इधर से उधर ले जाता था, मगर आज उसकी हिम्मत नहीं होती कि पास भी फटक सके।

बच्चे को सामने देखकर शेर ने उसे ललकारा। मानों वह कह रहा था—नादान, इतने दिन कहाँ तू गुमराह हो गया था! तुझे अपनी जाति और कुल का भी पता नहीं? मेरी औलाद और मेरी जाति का होकर भेड़ों के बीच बस रहा है? समझ, अब अपने को पहचान। तू मेरे समान हैं, मेरा सजातीय है। तू

शेर का बच्चा है। सिंहनी के उदर से तेरा जन्म हुआ है। भेड़ का दूध पीने और उनके साथ रहने से तेरे भीतर कमजोरी आ गई है! मगर जाति तो तेरी सिंह की है!

बस, निमित्त मिलने की देरी थी। वह मिला तो शेर का बच्चा शेर का बच्चा बन गया। गड़रिये के घर का निवास छोड़ कर जंगल का राजा बन गया। उसे लोग वनराज के रूप में देखने लगे।

यह एक उदाहरण है। इसके आधार पर देखना यह है कि आप और हम क्या हैं।

यह जीव देहपिण्ड में आबद्ध होकर कमजोर हो गया है। सिंह का शावक भेड़ों के बाड़े में रहता हुआ अपने को भेड़ समझने लगा है। इसे अपनी असली शक्ति का भान नहीं है। सोचता है—शरीर के लिए भी जरूरत पड़ेगी, बाल-बच्चों की भी जरूरत पड़ेगी, सामाजिक अधिकारों की भी जरूरत पड़ेगी, इनके बिना काम चलेगा नहीं। इनके लिए क्रोध भी करना पड़ेगा, मान भी करना पड़ेगा, दगाबाजी करनी पड़ेगी। क्या करें, विवशता है। इनके बिना दुनियां का काम नहीं चलता।

इस प्रकार मनुष्य आज अपने को पराधीनता के पाश में बद्ध अनुभव कर रहा है। इसका एक मात्र कारण यही है कि उसे अपने स्वरूप का भान नहीं है। ज्ञानी जन कहते हैं—प्रार्थना के द्वारा दिल के दर्पण में अपना स्वरूप तो देख! तुझे यथार्थ भान हो जाएगा। तुझे ज्ञात हो जाएगा कि तू भेड़ का बच्चा नहीं, सिंह किशोर है। भेड़ों के बीच रहते-रहते तू अपने स्वरूप को भूल गया है। यथार्थ में तू निर्बल नहीं, नादान नहीं, श्रीणशक्ति

नहीं है। तेरे भीतर वही शक्ति विद्यमान है जो परमात्मा में है, ऋषभदेव और महावीर में है। तू अनन्त ज्योति से जगमगाता हुआ तेजोनिधान है; तेरे भीतर अखण्ड आनन्द का अजस्र प्रवाही स्रोत मौजूद है।

अपरिमित लोकोत्तर शक्ति का धनी होकर भी यह जीव अपने को दुर्बल, निस्तेज और अकिंचन समझ रहा है। वनराज ने अपने को भेड़ समझ लिया है। अपने ओज को, अपने तेज को, अपने वीर्य को और अपने ज्ञानानन्दमय स्वभाव को विस्मृत कर दिया है।

इस स्वभाव को याद दिलाने के लिए ही यह आवाज उठाई है। प्रार्थना के यह स्वर सिंह की उस दहाड़ के समान हैं जिसने सिंहशावक को अपने स्वरूप की याद दिलाई थी।

परमात्म स्वरूप की जब झांकी होती है और शास्त्र जब स्वरूप की याद दिलाते हैं, तब जीव को अपने स्वभाव का स्मरण आता है। हमारे यहां परमात्मा के दो रूप हैं—सिद्ध परमात्मा और अरिहन्त परमात्मा। सिद्धस्वरूप आदर्श है लेकिन अरिहन्त के समान मार्ग दर्शक नहीं है। अरिहन्त भगवान का स्वरूप आदर्श भी बनता है और मार्ग दर्शक भी बनता है।

सिद्धस्वरूप का चिन्तन सामान्य साधकों के लिए अतीव दुस्साध्य है; क्योंकि उनका अपना कोई आकार नहीं है। किन्तु अरिहन्त के चिन्तन में उतनी कठिनाई नहीं होती। महावीर! त्रिशला माता के लाड़ले लाल, सिद्धार्थ के नेत्रों के तारे! उन्होंने हमारे जैसा तन पाकर साधना की और लोक में ज्ञान का प्रकाश फैलाया! उन्होंने रोशन कर दिया सारे संसार को! उनसे ज्ञान

का प्रकाश पाकर भव्य प्राणी अज्ञान के अन्धकार से बाहर निकल सके।

और जिस समय प्रभु सहसा जाकर नाग की बांबी पर खड़े होते हैं तो जनता में कुहराम मच जाता है। कहाँ जाकर खड़े हुए हैं भगवान्! अरे, वह दृष्टिविष सर्प है उसका देखना ही भगवान् के प्राणों को खतरा है। कितना भीषण है वह विषधर! उसके आसपास का वायुमण्डल भी विषाक्त है। भूला-भटका कोई पशु-पक्षी पहुँच जाता है तो मौत का ग्रास बन जाता है। आकाश में उड़ते हुए पक्षी उधर पहुंच कर विष के प्रभाव से अपने आप नीचे आ गिरते हैं। बड़ा ही प्रचण्ड विषधर है। नाम ही उसका चण्ड कौशिक है।

लोगों ने कहा—प्रभो! हमारी बात सुनो। उधर न जाओ। आप जीवन-मरण की स्पृहा का अतिक्रमण कर चुके हैं, मगर आपका जीवन संसार के लिए महान् वरदान है, वह वैभव है जिसकी कोई तुलना नहीं। अपने लिए नहीं, जगत् के हित के लिए जीवन को संकट में न डालो। प्रभो! रुको।

मगर धन्य परमपिता महावीर! धन्य है आपकी लोकोत्तर करुणा! आप क्षण भर अटके बिना चण्डकौशिक की बांबी की ओर बढ़ते ही गए उसकी आत्मा का उद्धार करने के लिए।

भगवान् जाकर ध्यान की मुद्रा में खड़े हो गए। नाग अपने स्वभाव को भूला नहीं था। माया का पर्दा उस पर पड़ा हुआ था। वह आया और भगवान् को देख कर रोष से फुंकार करने लगा। फुंकार के पश्चात् जो होना था वही हुआ। उसने पूरी शक्ति लगा कर पैर में डंस लिया। दुग्धधवल खून की धारा प्रवाहित हो उठी। फिर भी भगवान् अचल, अटल!

पर चंडकौशिक चकित हो उठा। उसने सोचा–कितने ही मनुष्यों को मैंने डँसा और यमधाम पहुंचा दिया; मगर इस पर जहर का असर ही नहीं दिखाई देता। इसके अतिरिक्त इसके शरीर से रक्त के बदले यह श्वेत क्या निकल रहा है? स्वाद भी इसका निराला है मीठा-मीठा!

चण्ड कौशिक इसी विचार में था कि भगवान् ने अपनी करुणा रस-सिक्त दृष्टि उस पर डाली! उस दृष्टि में अपार करुणा, असीम वात्सल्य और सहानुभूति का सम्मिश्रण था। फिर भगवान् ने उसे अमर शान्ति का संदेश देते हुए कहा–कौशिक चण्ड! क्या सोच रहे हो? सोचना है तो यह सोचो कि तुम्हें विषधर की योनिमें क्यों जन्म लेना पड़ा? इससे पूर्व तुम किस स्थिति में थे? तुम अधःपतन के इस गहरे गर्त में क्यों गिरे? नहीं याद आता? मैं बतलाता हूं–तुम पूर्वजन्म में साधु थे। साधु जीवन में तीव्र क्रोध करने के कारण तुम्हारी यह स्थिति हुई है! फिर भी तुम्हारा क्रोध नहीं मिटा! अब क्या पतन के और गहरे गर्त में गिरना है? यह जिन्दगी जहर उगलने और फैलाने के लिए नहीं मिली है। दुनिया को अमृत बाँट सको तो बाँटो, न बांट सको तो कम से कम जहर तो न फैलाओ। अब भी समय है, शीघ्र सावधान होओ और सन्मार्ग पर आओ! जहर से दूसरों के शरीर का ही नाश होता है, किन्तु तुम्हारी आत्मा का भी विनाश हो रहा है! जन्म-मरण बढ़ रहा है। पतन की परम्परा बढ़ रही है।

करुणा और वत्सलता से सरावोर महावीर की वाणी का चंड कौशिक पर जादू-सा असर हुआ। उसका सारा जीवन बदल गया। मानो शान्ति की सुधा में वह वह गया। उसने सोचा-अहो, यह महामानव कौन है? विचार करते-करते उसे जातिस्मरण

ज्ञान उत्पन्न हो गया। उसे अपना अतीत दिखाई देने लगा। दिल के दर्पण में उसने अपना रूप देख लिया। अपनी भूलों पर पश्चात्ताप करने लगा। वह भीतर ही भीतर मानों प्रार्थना करने लगा भगवन् ! कषाय के आवेश में आकर मैंने दूसरों पर विष बरसाने में अपनी सारी शक्ति गँवा दी। अब भगवन् ! मुझे उबारो। नाथ ! मुझे बचाओ !

होने लगी प्रार्थना, मगर शब्दों से नहीं। उसका तन-मन प्रार्थना के सात्विक रस में डूब गया।

आपने शक्कर की गोली तो देखी होगी। किसी पात्र में शक्कर की गोली डाल दो और पानी भर दो तो क्या होगा ? पानी में घुल-मिल जाएगी और काच की गोलियाँ भी होती हैं जिनसे बच्चे खेलते हैं। उसे पानी में डाला जाय तो क्या घुल जाएगी ? आकृति में और चमक में वह शक्कर की गोली जैसी ही होती है, फिर भी दोनों की प्रकृति में बड़ा अन्तर है। शक्कर की मीठी गोली घुल जाएगी परन्तु काच की गोली नहीं घुलने की। उसे चाहे महीने भर पानी में रक्खो, मगर वैसी की वैसी ही रहेगी। वह नदी में पड़ी रहे और गंगा में पड़ी रहे तब भी नहीं गलने की। चण्डकौशिक विषधर होते हुए भी शक्कर की गोली था। प्रार्थना के रस में वह घुल गया।

भव्य जीवो ! आप भी शक्कर की गोली बनो। काच की गोली बनोगे तो काम नहीं चलेगा। हजार बार भगवान् की वाणी में भी डुबकी लगाओगे, तब भी कोरे के कोरे ही रह जाओगे। अगर उद्धार चाहते हो तो शक्कर की मीठी गोली बनकर अपने को प्रार्थना के रस में घुल जाने दो इससे आपका जीवन कृतार्थ हो जाएगा।

भगवान् की वाणी का अमृत नाग की नस-नस में व्याप गया और उसका सारा जहर अमृत के रूप में परिणत हो गया। वह भगवान् का सच्चा भक्त बन गया। उसने प्रतिज्ञा की–प्रभो! आज से मेरे जीवन की राह दूसरी होगी। मैं किसी को पीड़ा नहीं पहुंचाऊँगा। अमृत न बरसा सकूँगा तो विष भी नहीं उडेलूँगा।

इस प्रकार प्रतिज्ञा करके नाग ने मुँह कर लिया बांबी के भीतर और सारे शरीर को बाहर रख दिया। वह ध्यान में मगन हो गया।

भगवान् वहीं अचल खड़े थे। लोगों ने देखकर और कुतूहल से प्रेरित हो कर वहां पहुंचने पर जो दृश्य देखा, वह अद्भुत था उन्होंने देखा–भगवान् ने नाग को बिलकुल बदल दिया है! वह हमारी ओर आँख उठा कर भी नहीं देख रहा है। लोगों का साहस बढ़गया फिरभी पास जाने में भय खाते हैं–कहीं ऐसा न हो कि नजदीक जावें और यह फूंकार मार दे। दूर से कंकर मार कर जाँचने लगे कि देखें इस पर क्या असर होता है। मगर कंकरों का भी असर नहीं हुआ, और पास में पहुंच कर पैर धमधमाए, तब भी नाग ज्यों का त्यों ही रहा। उंगुलियों से स्पर्श करने पर भी उसने मुँह बाहर नहीं निकाला। तब लोगों ने कहा–यह अब विषैला नाग नहीं रहा, नाग देव हो गया है। चलो इसकी पूजा करें।

नाग की पूजा होने लगी। कोई मीठा लाया, कोई दूध और कोई दही लाया। लोग कहने लगे–तुमने हमें बहुत हैरान किया, तकलीफ दी, नागदेव! अब ऐसा मत करना। हमारे बाल-बच्चों को कष्ट न देना। लोग इस प्रकार प्रार्थना और पूजा करने लगे। दूध, दही और मिठाई का ढेर लगने लगा। सांप का मुँह बांबी के भीतर था और उसे कुछ खाना नहीं था।

हाँ, मिठाई, दूध और दही के कारण वहाँ चींटियाँ आने लगीं; बढ़ने लगीं। वे मिठाई आदि खाद्यों को खाती रहीं और साथ ही नाग के रक्तहीनतन को भी काटने लगीं। धीरे-धीरे नाग का सारा शरीर छलनी सा बन गया। फिर भी चण्ड कौशिक अविचल रहा। वह अपने को आत्मभाव में स्थिर कर लेता है और भगवान् के ध्यान में लीन बना लेता है। जैसे कोई भव्य पुरुष समाधिमरण की स्थिति में हो, उसी प्रकार वह क्रोध आदि कषायों का परित्याग कर के समभाव में अपने चित्त को केन्द्रित कर लेता है।

परिणाम क्या हुआ? जब शरीर छलनी-छलनी हो गया और जीवन को वहन करने में समर्थ न रहा तो, आपको सुन कर आश्चर्य होगा कि शरीर त्याग कर वह आठवें देव लोक में देव रूप में उत्पन्न हुआ।

इस प्रकार चण्ड कौशिक का सारा भविष्य बदल गया। उसने अपने चित्त के आइने में अपने स्वरूप को देखा। भगवान् के स्वरूप में अपने स्वरूप को मिलाया और वह अपने असली रूप को पहचान गया।

सर्प में मनुष्य जितनी क्षमता नहीं होती, विचारशक्ति भी नहीं होती। फिर भी वह अपने जीवन को इस प्रकार अभ्युदय की ओर ले जाने में समर्थ हो सका और स्वर्ग के साम्राज्य को प्राप्त कर सका। फिर आप और हम तो मनुष्य हैं और सौभाग्य से महावीर के चरणों में भी पहुँच सके हैं। ऐसी स्थिति में क्या हमें उसी मार्ग पर नहीं चलना चाहिए जो मार्ग भगवान् ने चण्ड कौशिक को बतलाया था? हमें भी कषाय की रौद्रता (?) मनोवृत्ति का परित्याग करके, समभाव के सुधासरोवर में अवगाहन करना चाहिए।

एक बार जीवन के मोड़ को बदलने का रास्ता मिला और

यह बदल गया तो बेड़ा पार है। बस, मोड़ को बदलने भर की आवश्यकता है। बहिर्मुखी दृष्टि को अन्तर्मुखी कर लेना है। किन्तु यह जीव इतना भी पुरुषार्थ करने को उद्यत नहीं है और शरीर में ही रचा रहता है। सुबह घंटा-दो घंटा इस तन को सजाने-संवारने में, तेल साबुन लगाने और रेजर घुमाने में चला जाता है। रगड़मपट्टी किये बिना बाहर ही नहीं निकलेंगे। निकलें तो मन का भूत सिर पर सवार हो जाएगा। मगर इस प्रकार की वृत्ति आत्मा के लिए हितकर नहीं है। भविष्य का निर्माण इससे नहीं कर सकते। तन, धन, स्वजन और भोगोपभोग के साधनों के बदले अगर मन धर्म की आराधना में लग जाए तो बेड़ा पार समझिए। अगर पूर्ण रूप से धर्माराधना में नहीं लग सकते तो भी कम से कम देश धर्म की साधना में तो चलना ही चाहिए, इसी लिए कहा गया है :—

प्रभुताई को सब मरे, प्रभुको मरे न कोय,
जो कोई प्रभु को मरे, तो प्रभुता दासी होय।

दुनिया के लोग यही सोचते हैं, यही कमना करते हैं कि कैसे प्रभुता प्राप्त हो? कैसे बड़प्पन मिले? किस प्रकार सोने-चांदी से तिजोरियां भरी जाएं? कैसे सम्पत्ति का ढेर लग जाय?

मगर कवि कहते हैं—इस प्रकार सोच कर तुम उलटे मार्ग पर चल रहे हो। तुम तन और धन के लिए, जो अन्त में निश्चय ही साथ छोड़ देगा, अपने जीवन को उत्सर्ग कर रहे हो, यह कौन-सी चतुराई है! विवेक का तकाजा यह है कि प्रभुभजन में अपने जीवन के यह मूल्यवान् क्षण लगाओ। उधर से मुड़ो, इधर जुड़ो। जो धर्म के लिए मरना सीख लेता है, वह अमर हो जाता है। एक बार एक नौजवान का किस्सा पढ़ने को मिला। उसकी उम्र पचीस वर्ष की थी। एक औरत की उसे लगन लग गई और वह औरत की

यह बदल गया तो बेड़ा पार है। बस, मोड़ को बदलने भर की आवश्यकता है। बहिर्मुखी दृष्टि को अन्तर्मुखी कर लेना है। किन्तु यह जीव इतना भी पुरुषार्थ करने को उद्यत नहीं है और शरीर में ही रचा रहता है। सुबह घंटा-दो घंटा इस तन को सजाने-संवारने में, तेल साबुन लगाने और रेजर घुमाने में बीत जाता है। रगड़मपट्टी किये बिना बाहर ही नहीं निकलेंगे। निकले तो धन का भूत सिर पर सवार हो जाएगा। मगर इस प्रकार की वृत्ति आत्मा के लिए हितकर नहीं है। भविष्य का निर्माण इसे नहीं कह सकते। तन, धन, स्वजन और भोगोपभोग के साधनों के बदले अगर मन धर्म की आराधना में लग जाए तो बेड़ा पार समझिए। अगर पूर्ण रूप से धर्माराधना में नहीं लग सकते तो भी कम से कम देश धर्म की साधना में तो चलना ही चाहिए। इसी लिए कहा गाया है :—

> प्रभुताई को सब मरे, प्रभुको मरे न कोय,
> जो कोई प्रभु को मरे, तो प्रभुता दासी होय।

दुनिया के लोग यही सोचते हैं, यही कमना करते हैं कि कैसे प्रभुता प्राप्त हो? कैसे बड़प्पन मिले? किस प्रकार सोने-चांदी से तिजोरियां भरी जाएं? कैसे सम्पत्ति का ढेर लग जाय?

मगर कवि कहते हैं—इस प्रकार सोच कर तुम उलटे मार्ग पर चल रहे हो। तुम तन और धन के लिए, जो अन्त में निश्चय ही साथ छोड़ देगा, अपने जीवन को उत्सर्ग कर रहे हो, यह कौन-सी चतुराई है! विवेक का तकाजा यह है कि प्रभुभजन में अपने जीवन के यह मूल्यवान् क्षण लगाओ। उधर से मुड़ो, इधर जुड़ो। जो धर्म के लिए मरना सीख लेता है, वह अमर हो जाता है। एक वार एक नौजवान का किस्सा पढ़ने को मिला। उसकी उम्र पचीस वर्ष की थी। एक औरत की उसे लगन लग गई और वह औरत भी

पचास वर्ष की। वह उसके साथ विवाह करना चाहता था। लोगों ने और दोस्तों ने उसे बहुत समझाया कि पचास वर्ष की स्त्री से विवाह करके तू करेगा क्या! तेरा जीवन सुखमय नहीं होगा। विवाह करना ही है तो अपने योग्य उम्र की कोई कुमारी खोज ले। लेकिन नौजवान की लगन इतनी गहरी थी कि वह मिट न सकी। उसने मित्रों को अपनी राह का काँटा समझा और निराश हो कर आत्मघात करने का निश्चय कर लिया। शरीर पर तेल छिड़कर आग लगा ली। परन्तु अकस्मात् किसी ने उसे ऐसा करते देख लिया और दौड़ कर आग बुझा दी। वह मरने से बच गया परन्तु पुलिस के हवाले हो गया। अब उस पर मुकदमा चल रहा है।

उस नौजवान को बाहर की नहीं, भीतर की आग लगी। बाहर की आग तो भीतर की आग की ज्वाला मात्र थी।

भगवद् भक्त के जीवन में भी इसी प्रकार विशुद्ध प्रेम की आग लग जाती है। वह फिर बुझना नहीं जानती। हां, इस आग और उस आग में अन्तर है। वासनाग्रस्त पुरुष को विषय-वासना की आग लगती है, परन्तु प्रार्थी के मन में आग लगती है भक्ति की। भक्ति की आग जब पकड़ लेती है तो जीवन को बदले बिना नहीं रहती। उस आग में पड़ कर जीवन कुन्दन बन जाता है, जब कि वासना की आग जीवन को भस्म बना छोड़ती है।

सचमुच वे पुरुष अतीव भाग्यशाली हैं जिनके चित्त में भक्ति की अग्नि प्रज्वलित रहती है। ठीक ही कहा है:—

सुबह शाम जिसको तेरा ध्यान होगा।
बड़ा भाग्यशाली, वह इन्सान होगा॥

प्रातः-सायंकाल परमात्मा का नाम लेने वाला भी भाग्यशाली

होना है तो जिसने अपने हृदय को परमात्मा का सिंहासन बना लिया है और जो परमात्म-स्वरूप में रम गया है, उसके सौभाग्य की सराहना किन शब्दों में की जा सकती है? निस्सन्देह परमात्मा के मार्ग पर चलने वाला, उनके उपदेशों पर निश्चल श्रद्धा रखने वाला और उसी मार्ग पर अपने जीवन को मोड़ने वाला महा-भाग्यवान् है और विश्व की समस्त शक्तियाँ उसके चरणों में लोटेंगी।

मगर वह धन्य घड़ी आएगी कब? जब आप आत्मा के स्वरूप को समझ कर परमात्म-स्वरूप के साथ उसका मिलान करेंगे। शेर के बच्चे ने यही तो किया था। उसकी जिन्दगी बदल गई। वह भेड़ से सिंह बन गया, वनराज बन गया। आपको शिवराज बनना है तो अपने को पहचानो। शरीर के सम्पर्क से अपने को शरीर न समझो। इन्द्रियों के साहचर्य से अपने को इन्द्रिय मत समझो। यह देह विनश्वर और असार है। आप चैतन्य के धनी, शाश्वत और अनन्त सार से सम्पन्न हैं। इन पदार्थों के साथ आत्मा का कोई सादृश्य नहीं है। इस तथ्य को भलीभाँति हृदयंगम करके प्रार्थना के द्वारा अपने आपको पहचानो। अगर आपने आपा पहचान लिया तो कषायों और विकारों के भेड़िया आपके पास भी नहीं फटक सकेंगे। आपके सहज गुणों का विकास होगा, उनमें उज्ज्वलता आएगी और सारी दुर्दशा का अन्त आ जाएगा। जड़ पदार्थों से सुख की भीख नहीं मांगनी पड़ेगी, अनन्त सुख की विमल कल्लोलिनी आपके भीतर ही प्रवाहित होने लगेगी। परम शान्तिमय परमानन्द के भागी बनेंगे।

आदर्श नगर
जयपुर
२६-३-६०